# साधना

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की
विचारोत्तेजक प्रेरणात्मक पुस्तक

---

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

अनुवादक
सत्यकाम विद्यालंकार

मूल्य तीन रुपये (3·00)
+
दूसरा संस्करण 1970 
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली में मुद्रित
SADHANA (Essays) By Rabindranath Tagore

# अनुक्रमणिका

# व्यक्ति का विश्व स सम्बन्ध

प्राचीन यूनान की सभ्यता का विकास नगर-दीवारों की किलेबन्दियों में हुआ था। सम्पूण आधुनिक सभ्यता ने ही इट और पत्थरों क पालने म जन्म लिया है और इसी जड़ वातावरण मे विकास पाया है।

मनुष्यों के मन पर इन दीवारों की गहरी छाप पड़ गई है। हमारी विचारधारा पर इस व्यूह-नीति का प्रभाव बड़ा गहरा अंकित हो गया है। यह प्रभाव हम अपन आत्मसात् आदर्शों को भी सकीर्ण दीवारों में बन्द रखने की प्रेरणा करता है और एक-दूसरे में पृथकत्व की सीमाओं को दृढ़ रखने की प्रवृत्ति को उत्साहित करता है। हम एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान को और मनुष्य से प्रकृति को भिन्न देखने के अभ्यासी हो जाते है। यह प्रवृत्ति हमें स्वनिर्मित प्राचीरों के बाहर की प्रत्यक वस्तु को सदिग्ध दृष्टि से देखने को भी विवश कर देती है और हमारे चारों ओर ऐसी दुर्भेद्य दीवार बना देती है जिसे खण्डित करके हमारे अन्तःकरण तक प्रवेश करने क लिए हर सचाई को भी विकट युद्ध करना पड़ता है।

आर्य प्रवासी जब पहले-पहल इस देश म आए तो यह भूमि विस्तीर्ण वन-उपवनों की भूमि थी। प्रवासियों ने इन वनों को निवास योग्य बनान म अधिक कठिनाई अनुभव नही की। निविड़ वना के हरित-पल्लवित वृक्षा ने उन्हें सूय की प्रचण्ड गर्मी म शरण दी और तूफानी आँधियों स रक्षा करके अपने आँचल में आश्रय दिया। उनके पशुओं को चरागाह मिले, यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त करने के लिए उन्हें यथेष्ट समिधाएं मिलीं और कुटीर बनाने के लिए योग्य लकड़ियां व अन्य सामान भी उन्हीं वन वनों

म प्राप्त हुए। इन सुविधाओं के सहारे आर्यों ने इस देश के उन भिन्न-भिन्न विस्तीर्ण अरण्य-खंडों म अपने ग्राम-जनपद बना लिए जहा अन्न और पानी की प्राप्ति थोड़े ही श्रम से हो सकती थी।

इस तरह हमारे देश की सभ्यता का उद्भव देश के जगलों में हुआ और विशेष वातावरण में जन्म व विकास पाने के कारण हमारी सभ्यता की रूपरेखा म भी विशेषता आ गई। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन स ही इसे जीवन मिला और प्रकृति के परिधानों से ही इसका देह सज्जित हुआ। प्रकृति ही इसकी माता बनी और उसीके निरन्तर सम्पर्क मे इसका पालन-पोषण हुआ।

कहा जा सकता है कि इस तरह का वन्य जीवन मनुष्य की विचार शक्ति को कुंठित बना सकता है और जीवन के धरातल को नीचा करके मन की उदयोन्मुख प्रवृत्तियों का नष्ट कर सकता है। किंतु हमारे देश का इतिहास साक्षी है कि तत्कालीन वन्य जीवन ने मनुष्य की मन शक्ति को मन्द नहीं बनाया बल्कि उसे एक विशेष दिशा में प्रेरित किया। प्रकृति के सजीव विकास के निरन्तर साहचर्य ने उसे यह सिखा दिया कि अपने स्वत्वों पर एक भयभीत कृपण की तरह किलाबन्दी करने की कोई आवश्यकता नहीं है और जुदा-जुदा बांटकर उन्हें सुरक्षित करने के निमित्त प्राचीरों का निर्माण भी व्यर्थ है। प्रकृति ने उन्हें यह भी सिखाया कि मनुष्य का ध्येय स्वत्व की वृद्धि करना नहीं है बल्कि स्वानुभव और समीपस्थ चेतन अचेतन वस्तुओं के साथ विकसित और विस्तीर्ण होना है। तभी मनुष्य को यह ज्ञान हुआ कि सत्य की सीमा में सम्पूर्ण विश्व का समावेश है और किसी भी वस्तु का अस्तित्व अन्य सबसे पृथक नहीं रह सकता और सत्य की प्राप्ति का सच्चा रास्ता सम्पूर्ण विश्व की विभूतियों में स्वात्म-अनुभूति करना ही है। अपनी आत्मा और विश्वात्मा में सनातीन विद्यमान इस समता का अनुभव करना ही हमारे वनवासी तत्त्वदर्शियों का ध्येय था। अपनी साधना म व इस ध्येय को पूर्णतया प्राप्त कर चुके थ।

कुछ समय बाद वही वन दूर भर नगरों म परिवर्तित हो गए और वहा नव्य नगरों की स्थापना हो गई। वही ऐसे शक्तिशाली साम्राज्य

भी बने जिनकी सत्ता छाया संसार की अन्य प्रारम्भ महाशक्तियों ने भी स्वीकार की। किंतु राज्य-शक्ति के इस मध्याह्न-काल में भी भारत की आत्मा उन्हीं आदर्शों से प्रभावित होती रही जिनका विकास आत्मज्ञान की साधना में रत ऋषि-मुनियों ने अपने प्रवास के प्रथम काल में निर्जन वनों में किया था। राजप्रासादों में रहनेवाले सम्राट भी उन वन्य कुटीरों के निवासी तपस्वियों और तपोमय जीवन के सिद्धान्तों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते रहे और उन्हींको आप्त मानकर अपनी विचार-सरणी का निश्चय करते रहे।

पश्चिम के लोगों को प्रकृति पर विजय पाने का अहंकार है मानो वे ऐसे शत्रुता भरे भूमि-आकाश से आक्रान्त हैं जहां उन्हें जीवन के हर श्वास के लिए संघर्ष करना पड़ता है और प्रकृति को परास्त करके बलपूर्वक जीवनोपयोगी उपादेयों का संग्रह करना पड़ता है। पश्चिम की यह मनोभावना उनकी शहरी दीवारों में विकसित सभ्यता की देन है। शहरी जीवन में मनुष्य को प्रकृति के वरदान प्राप्त नहीं होते। विश्वात्मा से उसका तारतम्य टूट जाता है। अपने मन की संकीर्ण सीमाओं में ही वह जीवन की उस ज्योति की तलाश करता है जो उसके पथ को आलोकित कर सके। इसलिए उसका सम्पूर्ण जीवन अस्वाभाविक संघर्षों से अभिशप्त रहता है।

भारत की विचारधारा इससे भिन्न है। उसके अनुसार प्रकृति और मनुष्य एक ही व्यापक सत्य के अंग हैं। इन दोनों जीव और प्रकृति में एकत्व की भावना स्थापित करना ही भारतीय दर्शन का ध्येय रहा है। भारत के विचारकों का मन्तव्य है कि यदि हमारी बाह्य परिस्थितियां हमसे सर्वथा विजातीय हों तो उनसे हमारा साहचर्य सम्भव ही नहीं है। प्रकृति से मनुष्य को यही शिकायत है कि वह उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं करती उन्हें सिद्ध करने के लिए उसे स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। ठीक है किन्तु उसके प्रयत्न कभी व्यर्थ नहीं जाते प्रतिक्षण उसे सफलता मिलती है। इसीसे प्रकट है कि उसमें और प्रकृति में सहज सौहार्द है क्योंकि किसी भी ऐसी वस्तु को हम अपनी नहीं बना सकते जिससे हमारा प्रकृतिसिद्ध सहभाव न हो।

एक ही रास्ते को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं। एक यह कि वह

हमारे अभीष्ट को हमने पूरस्य किए हुए है इस अवस्था में हम अपनी यात्रा के हर कदम को रास्ते की दूरी पर सफलपूर्वक प्राप्त विजय का नाम देंगे और अपनी विजय व रास्ते की पराजय पर हर्षित होंगे। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि हम रास्ते को अपने ध्येय तक पहुंचने का साधन समझें तब वह साधन भी हमारे ध्येय का ही अंश बन जाएगा। तब हमारी यात्रा का हर कदम ध्येय की सिद्धि का रूप लेता जाएगा और हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण उसी आनन्द से विभोर हो जाएगा जो ध्येय की प्राप्ति से होता है। प्रकृति को हमारे भारतीय ऋषि इसी प्रकार का साधन मानते आए हैं। हमारे विचारकों का यह विश्वास है कि मनुष्य और प्रकृति में सहज समता है। यही समता है जो मनुष्य की विचार-शक्ति का स्रोत है और इसी कारण वह प्रकृति की शक्तियों का उपयोग करने में समर्थ होता है। उसके ध्येय और प्रकृति के ध्येय में कोई विषमता या विरोध नहीं है दोनों में ऐसा समवायी साहचर्य है जो निरन्तर रहता है और रहेगा।

पश्चिम की यह धारणा है कि प्रकृति का साहचर्य केवल जड़ वस्तुओं या वन्य पशुओं से है मनुष्य-प्रकृति उस शृंखला से बिलकुल भिन्न है। पश्चिम के विश्वास के अनुसार चराचर जगत् की निम्न स्तर की वस्तुओं का सम्बन्ध प्रकृति से है और बौद्धिक तथा विवेकमिश्र वस्तुओं व कार्यों का श्रेय केवल मनुष्य-प्रकृति को है। यह धारणा उसी तरह भ्रममूलक है जैसे पुष्प-कलिका को पुष्प से भिन्न समझने की भ्रांति और उन दोनों के सुवास-सौन्दर्य के लिए जुदा-जुदा श्रय विभाजित करने की प्रवृत्ति। भारतीय आत्मा को कभी ऐसी भ्रांति नहीं हुई। वह सदा प्रकृति से अपना समत्व बनाए रही है। भारतीय विचारक सब वस्तुओं में आत्मत्व और आत्मा में सबका समत्व मानते आए हैं।

विश्व-भर में समत्व की भावना रखना भारत के लिए केवल काल्पनिक आदर्श नहीं रहा बल्कि इस समत्व को अपने विचारों व क्रियात्मक जीवन में प्रयोग में लाना भारतीय आदर्श रहा है। सतत अभ्यास, संयत जीवन और परमार्थ भावना की निरन्तर साधना द्वारा भारत ने अपनी आत्मा में ऐसी अनुभूति जागरित कर दी कि उसे सम्पूर्ण विश्व में एक आध्यात्मिक स्पन्दन अनुभव होता था। पृथ्वी पानी आकाश प्रकाश

से लेकर पत्र-पुष्प तक सभी वस्तुओं का प्रयोजन उसके लिए केवल प्रयोग में लाकर बाद में त्याग देने का नहीं था। पूर्णता की खोज में ये सब साधन उसके लिए अनिवार्य उपकरण बन गए थे, जिस तरह किसी राग को संपूर्ण करने के लिए भिन्न भिन्न स्वर सहकारी बन जाते हैं। भारत की अंतरात्मा में यह बोध स्वयं जागरित हो चुका था कि संसार के सभी तत्वों का मनुष्य-जीवन को पूर्ण बनाने में एकांतिक प्रयोजन है। हम इस सत्य के प्रति कभी उदासीन नहीं होना चाहिए, बल्कि इस सबंध को सजीव बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, केवल वज्ञानिक जिज्ञासा को शांत करने या पार्थिव प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं अपितु विश्व की विराट आत्मा के साथ शान्ति और आनंद की सह-अनुभूति प्राप्त करने के लिए।

वैज्ञानिक जानता है कि विश्व की विभूतियों का वही स्वरूप नहीं है जो इन्द्रियों द्वारा अवगत होता है। उसे मालूम है कि पृथ्वी और जल वस्तुतः कुछ अदृश्य शक्तियों का मेल है जो पृथ्वी और जल के रूप में प्रकट होती हैं। वैज्ञानिक की तरह अध्यात्म दृष्टि से संसार के तत्त्वों को देखने वाला व्यक्ति भी यह अनुभव कर लेता है कि पृथ्वी और जल के रूप में वही महाशक्ति कार्य कर रही है जो अन्य समयों और पदार्थों में अन्य रूपों में प्रकट होती है। यह ज्ञान हमें उन शक्तियों पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा नहीं देता अथवा हमारे मन में उन्हें स्वत्वाधीन करने का अहंकार भी नहीं भरता बल्कि एक आनन्द देता है जो दो समानशील वस्तुओं के आत्मसात् होने से ही प्राप्त होता है। जिस व्यक्ति का संसारी ज्ञान केवल वैज्ञानिक प्रयोगों तक सीमित है वह प्राकृतिक सीमाओं को अध्यात्म दृष्टि से देखनेवालों की अनुभूतियों से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। आत्मदर्शियों के लिए प्राकृतिक विभूतियों का प्रयोजन केवल मनुष्य के उपयोग में आना नहीं होता। उनकी दृष्टि में जल का प्रयोजन केवल शरीर-शुद्धि नहीं होता जल उनके हृदय को भी निर्मल बनाता है क्योंकि वह जल उनकी आत्मा का भी स्पर्श करता है। पृथ्वी का प्रयोजन केवल उनके देह को स्थिति देना नहीं है, वह उनके मन को भी आह्लाद देती है क्योंकि उसका स्पर्श केवल भौतिक नहीं है वह सचेतन संस्पर्श है। जब मनुष्य प्रकृति से ऐसा सचेतन सौहार्द अनुभव नहीं करता तो संसार उसके लिए ऐसा मया-

नक कारागार बन जाता है जिसकी एक-एक ईंट उसका मन होती है। और इसके विपरीत जब वह सब वस्तुओं में आत्मभाव देखता है तो उसका सच्चा आत्मविकास होता है, क्योंकि तभी वह सृष्टि का मर्म जान पाता है जिसमें उसने जन्म लिया तभी उसे अपने अस्तित्व की सत्यता का भान होता है और अपनी परिस्थितियों से उसका निरन्तर समभाव बन जाता है। भारत की संस्कृति मनुष्य को सबसे पहला पाठ यही पढ़ाती है कि उसका अपनी परिधि में विद्यमान प्रत्येक चेतन-अचेतन वस्तु से आत्मिक साहचर्य है और उसे उदय होते हुए सूर्य का बहते हुए जल का व पुष्पित पृथ्वी का इस भावना से आराधन करना है कि ये सब उसी विराट जीवित सत्य के भिन्न रूप हैं जिसने इन सबको अपने आँचल में समेट रखा है। हमारा गायत्री मंत्र जो सब वेदों का निष्कर्ष कहा जाता है हमें इसी भावना को जागरित करने की प्रेरणा देता है। इसीकी सहायता से हम मनुष्य की चेतन आत्मा में विश्व की एकात्मता को अनुभव करने का यत्न करते हैं हम उस एकत्व को जानने का प्रयत्न करते हैं, जिसे महान शक्ति ने एक सूत्र में बाँधा हुआ है। वही शक्ति है जो पृथ्वी आकाश का निर्माण करती है और हमारी आत्मा में वह ज्योति प्रदीप्त करती है जो प्रकृति की इन विभूतियों के साहचर्य से सदा प्रज्वलित रहे।

यह आरोप सच नहीं है कि भारत ने भिन्न-भिन्न वस्तुओं का जुदा जुदा मूल्य लगाने में उदासीनता या असमिज्ञता प्रकट की है। भिन्नता को स्वीकार किए बिना जीवन निभाना असम्भव हो जाता है। यह सत्य भी भारत ने सत्यदर्शियों से परोक्ष नहीं रहा कि प्रकृति की विभूतियों में मनुष्यों का स्थान श्रेष्ठतम है। किन्तु श्रेष्ठता का मानदण्ड अवश्य दूसरा है। उसकी परख यह नहीं है कि मनुष्य अधिकाधिक सम्पत्ति का संग्रह कर सकता है बल्कि यह है कि वह सब प्राणियों में एकरूपता स्थापित करने की शक्ति रखता है। इसलिए भारत में अपने तीर्थस्थानों का चुनाव ऐसे ही स्थलों पर किया जहाँ प्रकृति का सौन्दर्य विशेष विभवता के साथ प्रकट हुआ जिससे मनुष्य का मन संकीर्ण आवश्यकताओं से फिर संसार का भूलकर विस्तीर्ण प्रकृति में अपने महत्त्व का अनुभव कर सके।

भारत को यह ज्ञान हो गया कि जब हम प्रकृति और अपने बीच एक भौतिक व मानसिक दीवार बनाकर स्वयं को प्रकृति से जुदा कर लेते हैं जब हम निरे मनुष्य, विश्व की विभूतियों से सर्वथा अलग रह जाते हैं तभी हमारी समस्याएं जन्म लेती हैं और उनके गच्चे समाधान का मार्ग बन्द होने के कारण हम मिथ्या उपचारों का आश्रय लेते हैं जो उपचार समस्याओं को सरल न बनाकर जटिल बना देते हैं और उसका कभी समाधान नहीं हो पाता। जब मनुष्य अपनी प्रकृति माता के आंचल का त्याग कर केवल मनुष्यता के आकाश में अधली बंधी रस्सी पर चलना शुरू करता है तो यह अपना सन्तुलन स्थिर रखने के लिए या तो उसपर नृत्य करता है या गिर पड़ता है। सन्तुलन की विषम कठिनाइयों से सन्तप्त होकर उसका मन विधाता को कोसने लगता है और उसे इस मिथ्या अहंकार में झूठा सन्तोष अनुभव करके ही शांति मिलती है कि वह सम्पूर्ण विश्व से अकेला लड़ रहा है सारी दुनिया उसे मिटाने की कोशिश कर रही है। वह अपने ही प्रयत्न से यथा-कथंचित् जीवित है। इस आत्म वंचना में ही वह परितोष अनुभव करने लगता है।

यह विडम्बना देर तक मनुष्य का साथ नहीं देती। मनुष्य को अपने अस्तित्व की व्यापक समता का ज्ञान होना आवश्यक है उसे यह सत्य ज्ञान होना चाहिए कि भगीरथ प्रयत्न करने के बाद भी वह अपने ही मधु कोष से मधु का संचय नहीं कर सकता। जीवन में अस्तित्व को स्थिर रखने के लिए आवश्यक मधु की प्राप्ति उसे अपने से बाहर वन उपवनो में रस भरे पुष्पों से करनी होगी। उसे इस बात का भी ज्ञान होना चाहिए कि जब मनुष्य स्वयं को प्रकृति के प्राणप्रद और मर्म स्पर्श से दूर कर लेता है और जीवन व आरोग्य के लिए अपने आविष्कारों का अवलम्ब लेता है तो वह उन्मादी हो जाता है स्वयं को खण्ड-खंड कर लेता है और अपने ही जीवन रस का शोषण करता है। प्रकृति के विशाल आंचल का अवलम्ब छोड़कर उसकी दीनता नग्न और निलज्ज बन जाती है। प्रकृति के आवरण में वह सादगी का रूप धारण किए रहता है। सब उसकी सम्पत्ति संयमहीन होकर बिखर जाती है। उसकी भूख प्यास आदि इच्छाएं भी अपने प्रयोजन की सीमा में नहीं रहतीं। वे स्वयं ध्येय बनकर

उसका जीवन में एक आग-सी लगा देती है, जिसकी लपटों के चमकते प्रकाश में वे राक्षसी तृप्ति का आनन्द लेती हैं। यही वह मनावस्था है जिसके अधीन हम प्रत्येक कार्य को विपरीत भावना से करते हैं। हमारी रचनाओं में कोमल सरसता न होकर चकाचौंध करने की तीव्रता आ जाती है। कला में हम नयापन भरने की कोशिश में ऐसे चिरन्तन सत्य को भुला देते हैं जो पुराना होते हुए भी सदा नवीन रहता है। साहित्य में भी हम मनुष्य के उस व्यापक रूप को अगोचर कर देते हैं जिसका बाह्य रूप बहुत साधारण किन्तु जिसका अन्तर बहुत विशाल है। तभी मनुष्य एक मनोवैज्ञानिक उलझन बन जाता है। या वह केवल कुछ ऐसे मानसिक आवेशों का पुतला दीखता है जो असाधारण और बहुत तीव्र हों। असाधारण इसलिए कि उन आवेशों को अस्वाभाविक रूप से दहकते प्रकाश से चमका कर प्रस्तुत किया जाता है। जब मनुष्य की चेतना को केवल अपने स्वार्थ की छोटी-सी परिधि के घेरे में बांध दिया जाता है तो उसकी आत्मा के मूल तत्वों को विकास के लिए स्थिर आधार नहीं मिलता—ठीक उस तरह, जिस तरह भूमि की ऊपरी सतह पर फैलनेवाली जड़ें जमीन की गहराई में बहनेवाले जल से वंचित रह जाती हैं। इसी कारण मनुष्य की आत्मा पोषक तत्वों को न पाकर भूखी रहती है। इस भूख की शान्ति का सच्चा उपाय न करके मनुष्य क्षणिक उत्तेजक तत्वों का सेवन करने में प्रवृत्त हो जाता है। तभी मनुष्य अन्तर्दृष्टि को खोकर अपने महत्व का माप पार्थिव प्रचुरता से करने लगता है। अपने कार्यों की परीक्षा गति और वेग की कसौटी पर करने लग जाता है, न कि काम में पूर्णता प्राप्ति के उपरान्त मिलनेवाली विश्रान्ति से और उस विश्रान्ति से जो सृष्टि के सदा सम प्रवाही नृत्य में या तारामय आकाश में विद्यमान है।

भारत में प्रथम प्रवासियों का आगमन अमरिका के यूरोपियन प्रवासियों के सदृश्य ही हुआ था। उन्हें भी यहां जंगलों और आदिवासियों से संघर्ष करना पड़ा था। मनुष्य और मनुष्य अथवा मनुष्य और प्रकृति के बीच का यह संघर्ष अन्त तक होता रहा, उनमें कभी सामंजस्य स्थापित नहीं हुआ। भारत में थोड़े-से संघर्ष के बाद ही हिंस्र जातियां में व्याप्त जंगल ऋषि-मुनियों के आश्रम बन गए। अमेरिका में प्रकृति का रूप जीवित

व्यवस्थाओं का प्रभाव मनुष्य के जीवन में विशेष रूप से अंकित नहीं हुआ। धन और सम्पदा की वृद्धि में ये सहायक अवश्य बने और कदाचित् उनके सौन्दर्य-उपभोग के भी प्रेरक बने हों। शायद किसी कवि के कवित्व को जागरित करने में भी उनका उपभोग हुआ हो किन्तु इनका मनुष्य के हृदय में वह पवित्र स्थान नहीं बना जिससे ये वन आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने का तीर्थस्थान बन जाते एसा तीर्थ जहां मनुष्य की आत्मा का विश्वात्मा से मिलन होता है।

एक क्षण के लिए भी मैं यह विचार प्रस्तुत नहीं करना चाहता कि जो कुछ हुआ वह अनुचित था। इतिहास हर स्थान में हर समय अपने को एक ही रूप में नहीं दोहराता। इस पुनरावृत्ति में मौलिकता नष्ट होने का भय है। भिन्न परिस्थितियों में स्थित मानव मानवता की हाट में अपनी अपनी विशेष रचनाओं के साथ आए—तभी मानवता की श्रीवृद्धि होगी। विभिन्न रचनाएं एक-दूसरे की विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। मेरे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि भारत को अपने प्रारम्भिक काल में जो विशिष्ट परिस्थितियां प्राप्त हुईं उनका उसने पूरा उपयोग किया। अपनी परिस्थितियों और उपलब्ध अवसरों पर उसने गहरा मनन-अनुशीलन किया प्रयत्न किया कष्ट उठाया, अपने अस्तित्व को मापने के लिए गहरा गोता लगाया और अब उसने जो पाया वह उस मानव-समाज के लिए भी सर्वथा अनुपयोगी नहीं है जिसका विकास सर्वथा भिन्न परिस्थितियों के इतिहास में हुआ है। अपने पूर्ण विकास के लिए मनुष्य को उन सब विविध तत्त्वों की आवश्यकता होती है जिसके सामंजस्य से उसका विषम जीवन बना होता है। तभी उसका भोजन जुदा-जुदा खेतों के भांति भांति के अन्न फल फूलों को बटोरकर बनाया जाता है।

सभ्यता एक प्रकार का सांचा है, जो प्रत्येक जाति अपने सर्वश्रेष्ठ आदर्श के अनुसार निर्माण करती है जिसमें उसके सभी स्त्री व पुरुषों के जीवन की रूपरेखा तैयार होती है। उस जाति की सभी सामाजिक संस्थाएं नियामक सभाएं भले-बुरे की परीक्षक कसौटियां और उनकी प्रत्यक्ष परोक्ष शिक्षाएं उसी आदर्श को ज्योतिस्तम्भ मानकर सचालित होती हैं। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता सब सगठित प्रयत्नों द्वारा मनुष्य को

शारीरिक बौद्धिक व नैतिक उत्कृष्टता में पूर्ण बनाने का प्रयास कर रही है। राष्ट्रों की विस्तीर्ण शक्तियां मनुष्य को परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए समर्थ बना रही है। उनके सब उद्योग प्रकृति से युद्ध करने और पड़ोसी देशों को पराजित करने में लग रहे हैं। उनके उपकरण उनके यन्त्र और उनके संगठन इस लक्ष्य को सम्मुख रखकर प्रतिदिन व्यापक हो रहे हैं। उनका संग्रह आश्चर्यजनक वेग से बढ़ता जा रहा है। यह निःसन्देह चमत्कारी सफलता है और मनुष्य की सच-शक्ति का आश्चर्यकारक प्रदर्शन है। प्रकृति पर मनुष्य का प्रभुत्व स्थापित करने और मार्ग की सब बाधाओं को दूर करने की क्षमता दिखलाकर पश्चिमी सभ्यता ने अपने लक्ष्य को बहुत अंशों में पा लिया है।

प्राचीन भारतीय सभ्यता का आदर्श इससे भिन्न था। उसीकी पूर्ति में अर्थ भारत ने साधना की थी। उसका लक्ष्य शक्ति प्राप्त करना नहीं था। अपनी सम्पदा और अपनी बल-शक्ति को सुरक्षा व आक्रमण के लिए तैयार करने की ओर से भारत उदासीन था। सम्पत्ति के संग्रह के लिए संगठित उद्योग भी उसने नहीं किए और राजनीतिक प्रभुत्व या सैनिक प्रभुसत्ता पाने की महत्त्वाकांक्षा ने भी भारतीय मन को कभी चपल नहीं बनाया। भारत का आदर्श इससे भिन्न था। उस आदर्श की साधना में भारत के प्रतिभासम्पन्न मस्तिष्क निर्जन एकांत में चले गए थे। वहां प्रकृति के रहस्यों का अनुसंधान करके जो अमूल्य निधि मानव-कल्याण के लिए उन्होंने प्राप्त की थी वह सांसारिक अभ्युदय की आकांक्षाओं का बलिदान देकर पाई थी। संसारी लाभ की दृष्टि में उन्हें अपने आदर्शों का भारी मूल्य चुकाना पड़ा। किन्तु भारत को उस त्याग का गर्व है। उस आध्यात्मिक उपलब्धि में मानव की ऐसी भावनाओं का परितोष मिलता है— जिसका कोई अन्त नहीं।

भारत में पुण्यात्मा विवेकी और साहसी सभी तरह के व्यक्ति रहे राजनीतिज्ञ महाराजा और सम्राट भी रहे किन्तु प्रश्न यह है कि भारत ने इन सब वर्गों में से किस एक वर्ग को भारतीयता [illegible] ... [illegible] का सम्मान दिया? ऋषियों [illegible] थ? [illegible] ज्ञान द्वारा आत्मा की अनुभूति हुई थी [illegible] व वर्ष [illegible] आत्मा

में उसकी समभावना मानकर अपने अन्तस्थ 'स्व' से जिन्होंने पूर्ण समता स्थिर कर ली थी ?[1] हृदय में ही उसकी स्थिति का अनुभव करके वे सब बाह्य कामनाओं से विरत हो गए थे और संसार की सब गतिविधियों में उसको ही देखकर जिन्हें पूर्ण प्रशान्ति प्राप्त हो चुकी थी। यद्यपि वे थे जो ब्रह्मज्ञान पाकर स्थिर शान्ति पा चुके थे जिनका मन विश्वात्मा से युक्त होकर विश्व के हृदय में प्रवेश पा चुका था।

इस तरह विश्वात्मा से अपने सम्बन्ध का ज्ञान पाना और परमात्मा में एकत्व अनुभव करके सबभूतों में एकात्मता प्राप्त करना ही भारतीय सभ्यता का परम ध्येय था।

मनुष्य अपने कर्मों तक सीमित नहीं। वह उनसे बड़ा है। उसके प्रवृत्ति-निवृत्ति निर्माण विनाश-सम्बन्धी सब काम उसमें व्याप्त होने के कारण मनुष्य के व्यक्तित्व से छोटे हैं। जब मनुष्य अपनी आत्मा को क्षुद्र संस्कारों के आवरण में कैद कर लेता है या संसारी कामों की आँधियाँ उसकी दृष्टि को धुंधला बना देती हैं तो उसकी व्यापक आत्मा अपनी स्वतन्त्र महानता को खो बैठती है। मनुष्य की आत्मा स्वतन्त्र है, वह न तो अपनी ही गुलाम बनती है न संसार की किसी वस्तु की। किन्तु वह प्रेमी है। प्रेम उसका आवश्यक तत्त्व है। उसकी पूर्णता प्रेम में ही है। पूर्ण मिलन भी उसीका दूसरा नाम है। मिलन या विलय की इस प्रक्रिया के अन्त में ही उसकी आत्मा विश्व की आत्मा में विलीन हो जाती है यही उसकी आत्मा का जीवन है। जब मनुष्य दूसरों को गिराकर उठने की कोशिश करता है और उत्थान का अहंकार अनुभव करने के लिए पार्श्ववर्ती परिस्थितियों का शत्रु बन जाता है तब वह अपनी प्रकृति से विपरीत आचरण करता है। इसीलिए उपनिषदों में मनुष्य-जीवन की चरम सिद्धि को प्राप्त किए हुए व्यक्तियों के लिए 'प्रशान्ता' और 'युक्तात्मानः' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

ईसा मसीह के इन शब्दों में भी इसी सत्य की छाया है कि 'सूई के छिद्र में से प्रवेश कर ऊँट भले ही गुजर जाए, किन्तु स्वर्ग के राज्य में धनी

---

[1] सम्प्राप्यैनम् ऋषयो ज्ञानतृप्ताः, कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीराः युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।

का प्रवेश असम्भव है। इस वाक्य से अभिप्रेत यह है कि जो सम्पत्ति हम अपने लिए संचित करते हैं वह हम दूसरों से पृथक करने में सहायक हो जाती है हमारी सम्पत्ति ही हमारी सीमा बन जाती है। धन-संचय में व्यस्त व्यक्ति का अहंभाव उस समभावपूर्ण अध्यात्म जगत् के द्वार में प्रवेश करने में असमर्थ बना देता है वह वहुसंचयी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति की संकीर्ण दीवारों में ही स्वयं को आबद्ध कर लेता है।

इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा का यही रहस्य है कि विश्वात्मा को पाने के लिए सबभूतों में आत्मवत् दृष्टि रखो। धनप्राप्ति की लिप्सा से हम अल्प वस्तुओं के लोभ में महान वस्तुओं की उपेक्षा करने लग जाते हैं। पूर्णता ही जिसका रूप है उसको पाने का यह मार्ग नहीं हो सकता।

यूरोप के कुछ आधुनिक विचारक ऐसे हैं जो उपनिषदों से ज्ञान ग्रहण करके आभार स्वीकार करने में संकोच करते हैं। वे उपनिषद् के गहन ज्ञान को पूरी तरह अवगत नहीं कर सकने के कारण यह आलोचना करते हैं कि 'भारत का ब्रह्म केवल कल्पना में है और भारतीय ज्ञान संसार की वस्तुओं के निषेध में ही उसकी स्थापना समझता है। संभव है भारत के कुछ विचारक ऐसा ही मानते हों किन्तु भारतीय विचारधारा इसके अनुकूल कदापि नहीं है। इसके विपरीत भारतीय मन तो उस अनन्त व्यापक शक्ति को सृष्टि के हर कण में अणु-अणु में व्याप्त मानकर उसका हृदय से स्पर्श करने की साधना करता है। यही साधना भारतीय जीवन की पथदर्शिनी रहती है।

जगत् की हर वस्तु में ईश्वर का आवास है[1] इस भावना से ही उपनिषद् का प्रारम्भ होता है।

मैं उस देवता को प्रणाम करता हूं जो अग्नि में है जल में है, जिससे सब चराचर विश्व व्याप्त है जो औषधियों और वनस्पतियों में है।[2]

क्या यह ईश्वर केवल निषेधात्मक संसार की भ्रांति पर आश्रित हो सकता है? हम उसे केवल सर्वव्यापी देखते ही नहीं बल्कि विश्व के हर

1 ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

2 यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वम्भुवनमाविवेश य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

पदार्थ में व्याप्त को प्रणाम भी करते हैं। उपनिषद् के ज्ञान से प्रभावित मनुष्य का मन विश्व की सब विभूतियों के प्रति श्रद्धावान् रहता है। उसकी आराधना के लिए हर वस्तु में उसका देवता रहता है।

उसके लिए एक परम सत्य की सत्ता सम्पूर्ण विश्व को सत्य बनाती है। वह इसका मात्र ज्ञान ही नहीं करता बल्कि ज्ञान के बाद उसे भक्ति की दृष्टि से भी देखता है। 'नमोनम'—हम उसको सर्वत्र प्रणाम करते हैं और बारम्बार करते हैं। आनन्द-विभोर होकर ऋषि जब सम्पूर्ण विश्व को सम्बोधन करके कहते हैं कि 'हे अमृतपुत्रो! तुम दिव्य धाम में रहते हो। मैं उस महान् ज्योति को जानता हूं जिसकी अन्धकारहीन आभा से तुम प्रकाशित हो।'[1] इस आनन्द का अनुभव वही कर सकता है जिसने उस ज्योति का साक्षात् अनुभव किया हो। यह आनन्द केवल काल्पनिक नहीं हो सकता। इस प्रवचन में अस्पष्टता का लेश भी नहीं है।

बुद्ध ने उपनिषद् की शिक्षाओं को जीवन में कार्यान्वित करने की कला का अभ्यास करने के बाद जो सन्देश दिया था उसमें भी इन्हीं आदर्शों की व्याख्या की थी। उनका सन्देश था कि भूमि या आकाश में दूर या समीप में दृश्य या अदृश्य में जो कुछ भी है उसमें असीम प्रेम की भावना रखो हृदय में द्वेष या हिंसा की कल्पना भी आमद् न होने दो। जीवन की हर चेष्टा में उठते-बैठते सोते-जागते प्रतिक्षण इसी प्रेम भावना से ओत-प्रोत रहना ही ब्रह्म-विहार है या दूसरे शब्दों में जीवन की यही गतिविधि है जिससे ब्रह्म का आत्मा में विचार किया जाता है।

यह ब्रह्म की आत्मा क्या है? उपनिषद् के शब्दों में जो आकाश में तेजोमय और अमृतमय है और जो विश्व चेतना है वही ब्रह्म है।[2]

आकाश में ही नहीं उपनिषद् का कहना है कि जो हमारे अन्तःकरणों में भी तेजोमय और अमृतमय पुरुष है और जो विश्व-चेतना का स्रोत है वह ब्रह्म है।[3] इस विराट विश्व के रिक्त स्थान में उसकी चेतना व्याप्त है

१ शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये दिव्या धामानि तस्थुः ॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

२ यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्वानुभूः ।

३ यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः सर्वानुभूः ।

और हमारी अन्तरात्मा में भी उसीकी चेतना है।

इसलिए इस व्यापक चेतनता की प्राप्ति के लिए हमें अपने अन्तर की चेतनता से विश्व की असीम चेतनता का समभाव स्थापित करना है। वस्तुत मानव के अभ्युदय का सच्चा अर्थ इसी चेतनता के उदय और विस्तार में है। हमारा साहित्य हमारी कला और हमारे विज्ञान व दर्शन इस चेतनता को व्यापक क्षेत्रों में विस्तीर्ण करने के लक्ष्य की ही पूर्ति कर रहे हैं। हमारे भीतर की चेतनता का व्यापक चेतनता में विस्तार करना ही हमारे ज्ञान-विज्ञान का ध्येय रहा है।

इसी विस्तार की प्राप्ति के लिए हमें मूल्य चुकाना पड़ता है। वह मूल्य क्या है ? वह है—आत्मार्पण आत्मविसर्जन। विसर्जन द्वारा ही हम आत्मा की अनुभूति प्राप्त करते हैं। उपनिषदों का सन्देश है तुम त्याग से ही भोग करो[1] और किसीके धन का लोभ न करो।[2]

गीता ने भी कहा है कि हमें फल की कामना त्यागकर निष्काम कर्म करना चाहिए। कुछ बाहरी विचारकों का मत है कि इस निष्काम भावना का आधार जगत् का मिथ्या मानना ही हो सकता है। वस्तुत सचाई इसके विपरीत है।

जो मनुष्य स्वार्थ प्रधान व अहंकारी होता है वह अन्य सब वस्तुओं का हीनतम मूल्यांकन करता है। अत स्वभिन्न वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान पाने के लिए हम मनुष्यों को अहंभावत्याग करना और स्व प्रधान भावनाओं का नियन्त्रण करना होगा। अपने सामाजिक कार्यों की साधना के लिए भी हमें इसी नियन्त्रण का पालन करना पड़ता है। जीवन को व्यापक बनाने का प्रत्येक प्रयत्न इस बात की अपेक्षा रखता है कि हम दूसरों को देकर ही पाने की कोशिश करें और परकीय वस्तुओं का लाभ त्याग दें। इसीको 'त्याग से भोग करना' कहते हैं। मानव-मात्र के प्रयत्नों का यही लक्ष्य है कि वह विश्व के साथ अपनी चेतनता के इस सम्पर्क को अनुदिन विस्तृत करे।

भारत ने इसी असीमता का कभी शून्यता या अभाव-मात्र नहीं माना।

---

१ त्यक्तेन भुञ्जीथा।

२ मा गृध कस्य स्विद्धनम्।

भारत के ऋषि बलपूर्वक कहते आए हैं कि उस असीम चेतनता का ज्ञान ही जीवन की सचाई है और उसे न जान पाना महान् विनाश है।[1] प्रश्न यह है कि फिर उसे कैसे जाना जाए? ऋषि इसका उत्तर देते हैं 'उसे सर्वत्र-सर्वगत अनुभव करते हुए जानो।'[2] न केवल प्रकृति में बल्कि परिवार में समाज में और राज्य में इस विश्व-चेतना को जितना अधिक व्यापक सर्वान्तर्गत अनुभव करोगे उतना ही हमारा जीवन समर्थ होगा। इसे अनुभव न करने का परिणाम विनाश के अतिरिक्त कुछ नहीं।

एक समय था जब हमारे दार्शनिक कवि भारत के विशाल चमकते आकाश के नीचे खड़े होकर विश्व भर का प्रेम विभोर हृदय से स्वागत करते थे—इस कल्पना से ही मेरा हृदय आनन्द और मानवता के लिए आशामय भविष्य के स्वप्नों से भर जाता है। हमारे प्राचीन ऋषियों के उद्गार आनन्द के उन्माद में कहे हुए प्रलाप नहीं थे। उन्होंने मनुष्य की छाया को प्रकृति के दर्पण में अतिशय विस्तार से देखने का प्रयत्न नहीं किया था प्रकृति के छाया प्रकाशमय रंगमंच पर मनुष्य की अतिरंजित भावनाओं का अभिनय चित्रित करने का स्वप्न भी नहीं लिया था। इसके विपरीत उन्होंने मनुष्य को अपनी संकीर्ण सीमाओं से उठने और मानवता से ऊंचा उठकर विश्व में आत्मभाव बनाने का सन्देश दिया था। यह कोरी कल्पनाओं का खेल नहीं था। बल्कि इस सन्देश का लक्ष्य यह भी था कि मनुष्य की चेतना प्रकृति के अतिरंजित रहस्यों के त्रास से मुक्ति प्राप्त करे।

हमारे तत्त्वदर्शियों ने अपने अन्तःकरण की गहराई में यह जान लिया था कि जो शक्ति शिव के असंख्य रूपों में गतिशील होकर प्रकट हो रही है वही शक्ति मनुष्य के अन्तर् में चेतना बनकर प्रकट हुई है। दोनों में अटूट समभाव है। उनकी दृष्टि में मृत्यु भी इस समभाव को भंग नहीं कर सकती। 'उसकी छाया में ही अमृत है जीवन है और उसीमें मृत्यु'[3] यही हमारे ऋषियों का सन्देश था—उन्होंने मृत्यु और जीवन में सहज

---

१ इह चेदवेदीद् अथ सत्यमस्ति नोचेद् अथ अवेदीद् महती विनष्टिः।

२ भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य।

३ यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः।

विरोध की भावना नहीं देखी, बल्कि उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ यह कहा कि 'जीवन ही मृत्यु है।'[१] उन्होंने जीवन के प्रत्येक स्वरूप और प्रत्येक परिवर्तन का सोल्लास स्वागत किया आने वाले जीवन का भी और जाने वाले का भी।[२] उनके विचार में समुद्र की लहरों की भांति ही जीवन का आना-जाना है। उसमें इस आने-जाने से न तो ह्रास ही होता है और न ही उसमें मलिनता आती है।

उपनिषद् का कहना है कि जो कुछ भी है सब उसी अमर व्यापक जीवन से प्राणित हुआ है और हो रहा है[३] क्योंकि जीवन का स्वरूप बहुत विशाल है।[४]

पूर्वजों के इस विरासत में पाए महान् संदेश को पुनः सजीव करना हमारा पवित्र धर्म है। यह केवल तात्विक या भावनात्मक सन्देश नहीं है इसका जीवन के आचरण पर गहरा प्रभाव है। इसे कार्यान्वित करना होगा। उपनिषद् में कहा गया है कि भगवान् सर्वव्यापी है इसलिए सब प्राणियों में कल्याण-रूप होकर बसता है।[५]

सब प्राणियों में ज्ञान द्वारा प्रेम द्वारा और सेवा द्वारा समभाव रखना और इस तरह सर्वव्यापक में अपने रूप को अनुभव करना ही मानव-धर्म का सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है और यही सारांश में उपनिषदों का सन्देश है कि जीवन महान् है।[६]

१ प्राणो मृत्युः।
२ नमो अस्तु आयते नमो अस्तु परायते प्राणेद पूर्ण धर्म च।
३ यदिदं किञ्च प्राण एजति निःसृतम्।
४ प्राणो विराट्।
५ सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।
६ प्राणो विराट्।

# आत्मबोध

हम देख चुके हैं कि प्राचीन भारत का जीवन-आदर्श अपने आत्मबोध के क्षेत्र का समस्त जगत् में विस्तार करके सर्वचेतन और सर्वव्यापक ब्रह्म में ही विचरना और असीम परम आनन्द की अनुभूति करना था। कहा जा सकता है कि यह आदर्श मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर की वस्तु है (यदि आत्मबोध के विस्तार का यह उद्योग बाह्य जगत् से प्रारम्भ किया जाए तो इस प्रक्रिया का कहीं अन्त ही नहीं होगा। यह प्रयत्न समुद्र की लहरों को सुखाकर समुद्र-तट तक पहुँचाने के समान है सब कुछ अपने में समा लेने की कोशिश करते हुए हम कुछ भी न पा सकेंगे सभी कुछ खो देंगे।)

किन्तु वस्तुतः यह बात उतनी असंगत नहीं है जितनी मालूम होती है। मनुष्य की प्रतिदिन की समस्या ही यह है कि वह अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार और अपनी जिम्मेदारियों के बोझ का सन्तुलन करने में सदा यत्नशील रहता है। उसके बोझ कम नहीं हैं वे बहुत हैं और इतने विविध हैं कि उन्हें सम्भालते हुए जीवन की राह पर बढ़ना कठिन मालूम होता है किन्तु वह जानता है कि एक व्यवस्था का निर्माण करके वह अपने बोझ को हल्का बना सकता है। जब यह भार बहुत अटपटा और विषम-सा प्रतीत होने लगता है तो मनुष्य को तुरन्त यह ज्ञान हो जाता है कि उसकी व्यवस्था में कोई ऐसी त्रुटि रह गई है जिससे वह बोझ सन्तुलित होकर उसके कन्धों पर रखा नहीं जा सका है। तब वह उसे व्यवस्था में रखने का प्रयास करता है। व्यवस्था की इस खोज का ही दूसरा नाम समता या एकता की तलाश है। हम अपने बाह्य उपकरणों की विषमताओं में आन्तरिक एकता की सहायता से समभाव स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। इस अनुशीलन में

हमें यह ज्ञान होने लगता है कि उस एक की खोज करना सबस्व पाने के बराबर है और यह कि वही हमारा अन्तिम सर्वोपरि ध्येय है। इस एकत्व का आधार यही सत्य है जो अनेक को व्याप्त करके सबमें रहता है। अस्तित्व तो अनेक घटनाओं का है किन्तु सत्य एक ही है। पशु-बुद्धि केवल घटनाओं के अस्तित्व तक रहती है मनुष्य-बुद्धि में सत्य तक पहुंचने की योग्यता है। वृक्ष से फल गिरता है वर्षा आकाश से भूमि पर होती है इन घटनाओं का इतिहास याद करने लगें तो इसका कोई अन्त नहीं। किन्तु एक बार इन घटनाओं के मूलभूत आकर्षण के सिद्धान्त 'ला आफ ग्रविटेशन' को जानने के बाद घटनाओं के संग्रह की उपयोगिता का अन्त हो जाता है। आप एक सत्य को पा जाते हैं जो असंख्य घटनाओं का आधार है। सत्य की यह प्राप्ति मनुष्य के मन को मुक्ति देकर दिव्य आनन्द से भर देती है। क्योंकि घटनाएं उन अन्धी गलियों के समान हैं जो अपने तक ही समाप्त हो जाती हैं अपने से बाहर कहीं नहीं ले जातीं। और सत्य का रास्ता मनुष्य के सामने सारे आकाश का मार्ग खोल देता है वह हमें असीम की राह पर ले जाता है। यही कारण है कि जब डार्विन जैसा सात्त्विक मनुष्य प्राणिशास्त्र का एक साधारण-सा सत्य भी जान लेता है तो वह वहीं नहीं ठहर जाता है। जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए उसने ज्ञान की ज्योति प्रदीप्त की थी वह उस वस्तु को ही प्रकाशित नहीं करती—उसके दूर-समीप की वस्तुओं पर भी उजाला कर देती है। वह उजाला मानव-जीवन की सभी धाराओं में फैल जाता है। इस तरह हम जान पाते हैं कि सत्य सब घटनाओं को व्याप्त करके केवल घटनाओं तक ही सीमित नहीं रह जाता वह उन सीमाओं को सब दिशाओं से पार करके उस असीम का भी संकेत करता है जिसे आंखों की सीमित शक्ति नहीं देख पाती।

यह बात जिस तरह ज्ञान के सम्बन्ध में सच है उसी तरह भावभूमि के सम्बन्ध में भी है। मनुष्य को उस केन्द्रित सत्य का अनुभव अवश्य होना चाहिए जो उसे अधिक से अधिक विस्तृत या तिरोहित ध्येय का दर्शन योग्य दर्शन-शक्ति दे सके। वही ध्येय यह सत्ता है जिसके सम्बन्ध में हमारी उपनिषदें कहती हैं कि अपनी आत्मा का 'जानो' या दूसरे शब्दों में उस एकत्व का मूल पहचानो जो सब मनुष्यों में है।

हमारी अहंमूलक प्रवृत्तियाँ या स्वार्थपरक कामनाएं हमारी आत्मा के सच्चे स्वरूप को कोहरे की तरह ढक लेती हैं और जब हमें आत्मानुभूति हो जाती है तो हमारी आत्मा उस अहंकार के भ्रम का पार करके भी स्वयं प्रकाशित हो जाती है और तभी हम सम्पूर्ण विश्व को आत्मभावना से देख सकते हैं। हमारी आत्मा और विश्वात्मा में जो सहज समता है वह हमें विश्वमात्र का आत्मीय बना देती है। बच्चे जब अलग-अलग अक्षरों का बोध करने लगते हैं तो इस बोध में उन्हें कुछ आनन्द नहीं मिलता क्योंकि तब वे इस बोध के असली अभिप्राय को नहीं जानते बल्कि वह अक्षर-बोध उनके मन को थका देता है। उसमें उन्हें रस तभी आने लगता है जब वे अक्षर शब्दों और वाक्यों में जुड़कर कोई भाव प्रकट करना शुरू करते हैं।

इसी तरह हमारी आत्मा जब संकीर्ण स्वत्व की सीमाओं में बंधी रहती है तो अपनी विशेषता को देती है। इसकी विशेषता एकत्व में ही है। वह विश्व से समभाव होकर ही अपने सत्यस्वरूप का बोध कर सकती है और तभी उसे आनन्द की अनुभूति होती है। मनुष्य भय और संघर्ष की स्थितियों में तभी तक रहा जब तक वह प्रकृति के व्यापक ममत्व के सिद्धान्त को नहीं जान पाया तभी तक सारा संसार उसे अजनबी-सा मालूम होता था। अन्त में जो ज्ञान उसे हुआ वह इसके अतिरिक्त कुछ नहीं था कि उसने अपने अन्तःकरण और विश्व की व्याख्या के बीच जो सहज समता है उसे अनुभव कर लिया। यही वह सूत्र है जिसने मनुष्य को संसार से बांधा हुआ है। इस बात का ज्ञान उसके लिए बड़ा हर्षप्रद हुआ क्योंकि तब वह अपने दूर-समीप की चीजों में अपनी ही छाया देखने लगा। किसी वस्तु को समझने का अर्थ यह है कि हम उसमें कोई तत्व ऐसा पाते हैं जो हमारा ही अंश हो।

इस तरह हम अपने को ही अपने से बाहर की चीजों में पाकर आनन्दित होते हैं। इस बोध द्वारा सम्बन्धित होना हमारे सम्बन्ध को सर्वथा पूर्ण नहीं बनाता। सम्बन्ध पूर्णता पाता है प्रेम द्वारा ही। प्रेम में भेद भाव नहीं रहता और उस पूर्णता को पाकर मानव-आत्मा अपना परम लक्ष्य पा लेती है जब वह अपनी सीमाओं का पार करके असीम को स्पर्श करने लगती है। प्रेम

ही मनुष्य को यह ज्ञान देता है कि वह अपनी सीमाओं से बाहर भी है और यह कि वह विश्व की आत्मा का ही भाग है।

समता की यह अनुभूति मनुष्य की आत्मा में सदा सजग रहकर साहित्य कला विज्ञान और धर्म की रचना द्वारा प्रकृति के साथ अपना सम्पर्क बनाती रहती है। सभी हमारी महान् आत्माएं मनुष्य प्रेम के अध स्वत्व का त्याग करके आत्मा का सच्चा अर्थ बतलाती रही हैं। प्रेम के मार्ग में उन्होंने कष्ट सहे, शारीरिक यन्त्रणाएं सही यहां तक कि मृत्यु का भी स्वागत किया। उन्होंने आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझा और आत्मिक जीवन व्यतीत करके मानवता के चरम सत्य की पुष्टि की। इसीलिए हम उन्हें महात्मा—महान् आत्मा वाला पुरुष कहते हैं।

एक उपनिषद् में यह वचन है तुम अपने पुत्र को इसलिए प्रेम नहीं करते कि वह पुत्र है बल्कि इसलिए कि तुम उसमें अपनी आत्मा की कामना करते हो उसमें स्वकीय आत्मा का प्रतिबिम्ब देखते हो। इसका अर्थ यह है कि जिसे भी हम प्रेम करते हैं उसमें अपनी आत्मा का रूप देखते हैं। यही परम सत्य हमारे अस्तित्व का आधार है। परमात्मा हमारे अन्तर में रहता है वही हमारे पुत्र में है अपने पुत्र से प्रेम का अनुभव इस सत्य की अनुभूति का ही परिणाम है।

प्राय यह होता है कि हमारा पुत्र-प्रेम या मित्र प्रेम हमारी आत्मा के और अधिक विकास के मार्ग में बाधक बन जाता है। फिर भी इसका अपना महत्त्व है। अपने से बाहर आत्मीयता की तलाश में यह पहला कदम होता है। यह हमारी आत्मा के इस स्वभाव को प्रथम बार प्रकट करता है। इसी प्रथम अनुभूति के आधार पर हमें इस परम सत्य का साक्षात् होता है कि अपने अहंभाव का त्याग करके दूसरों में समभावना बनाने में ही आनन्द की पराकाष्ठा है। यह प्रेम हमें नई शक्ति और नई अन्तर्दृष्टि देता है। किन्तु यदि हम इसकी सीमाओं को सकुचित कर दें तो यही प्रेम अपने सच्चे रूप का विद्रोही हो जाता है। तब हमारा स्नेह सकुचित परिधि में बंध जाता है हमारे पारिवारिक संबंध स्वार्थ और विद्वेष की भावनाओं से भर जाते हैं हमारे राष्ट्र भय और संशय की दीवारें खड़ी कर

 है। यह उसी तरह है जैसे कोई बन्द दीवारों में उस दहकती आग को

बांध से जो अपनी जहरीली गैसों में भभकने तक जलती और लपटें छोड़ती रहे। फिर भी यह आग बुझाने से पहले उस आनन्द का प्रकाश कर जाती है जो उस सर्व ग्रासी अंधकार में मुक्ति पाने में हुआ है।

उपनिषदों का कथन है कि विश्व चेतना की कुंजी आत्मचेतना है। अपनी आत्मा को अपने से भिन्न जानना ही ब्रह्मज्ञान की पहली सीढ़ी है। हमें पूर्ण श्रद्धा के साथ यह ज्ञान होना चाहिए कि हमारा सच्चा रूप आत्मा में है। यह ज्ञान हमें संसारी अहंकार भय लाभ से ऊपर उठकर और यह मानकर कि संसारी लाभ हानि व जन्म-मरण में हमारी आत्मा अछूती रहती है हो सकता है। मुर्गी का बच्चा जब अंडे की कैद से मुक्त होता है तो वह जानता है कि उस अंडे की चहारदीवारी का वस्तुतः उसके जीवन में कोई भाग नहीं है। वह अंडे का खोल मृत वस्तु है न उसमें वृद्धि है न विकास। वह अपने बाहर की दुनिया के सम्बन्ध में कोई प्रकाश भी नहीं डालता। यह खोल कितना ही सुन्दर हो स्वाधीन जीवन की पूर्णता पाने के लिए उसे तोड़ना ही होगा। इसी तरह मनुष्य को अपने दैहिक बंधनों को तोड़कर विश्वात्मा में मिलने की स्वाधीनता पानी होगी तभी जीवन पूर्ण हो सम्पूर्ण विश्व से समभाव स्थापित होगा।

मैं पहले ही कह चुका हूं कि हमारे तत्वदर्शी पूर्वजों ने कभी समाज व स्वत्व के त्याग का जिसका परिणाम शून्यता है उपदेश नहीं दिया। उनका उद्देश्य आत्मा का बोध करना या दूसरे शब्दों में संसार का पूर्ण सत्य में पाना था। जब ईसा ने कहा था विनम्र व्यक्ति सौभाग्यशाली हैं वही पृथ्वी के स्वामी बनेंगे तो ईसा मसीह का यही अभिप्रेत था। उन्होंने इसी सत्य की घोषणा की थी कि अहंकार का मद छोड़कर ही मनुष्य सच्चे अर्थों में स्वत्व का स्वामी बनता है। तब उसे संसार में अपना स्थान बनाने के लिए संघर्ष नहीं करना पड़ता वह सर्वत्र स्वयं सुरक्षित होता है। उसकी आत्मा का उस स्थान के पाने का अमर अधिकार है। अहंभाव का झूठा अभिमान आत्मा के पूर्ण विकास में रुकावट डालता है और सम्पूर्ण विश्व के साथ समभाव बनाने के कार्य को पूर्ण बनाने में बाधक बन जाता है।

साधुसिंह को ... भगवान बुद्ध ने कहा था यह सच है

कि कर्म के त्याग का उपदेश देता हूँ किन्तु यहाँ मेरा अभिप्राय केवल उन कर्मों से है जो मन वचन कार्य किसी भी दृष्टि से अकल्याणकारी हो। यह सच है कि मैं त्याग का उपदेश देता हूँ किन्तु मेरा उद्देश्य केवल अहंकार वासना कुविचार अज्ञान के ही त्याग से है न कि प्रेम क्षमा, दान और सत्य के परित्याग से।

बुद्ध ने जिस मुक्ति का प्रचार किया था वह अविद्या के बन्धनों से मुक्ति थी। अविद्या हमारी अनुभूतियों को अन्धकारमय बनाती है और उन्हें केवल अहंभाव के आसपास सीमित रखती है। यही प्रवृत्ति हमारे अन्य स्वार्थपूर्ण आवेशों लोभ मोह क्रोध और क्रूरता का कारण बनती है। मनुष्य जब सोता है तो उसकी वृत्तियाँ संकीर्ण शारीरिक जीवन चेष्टाओं की सीमा में ही बंध जाती हैं इसीलिए उसे स्वयं का भान नहीं रहता। इसी तरह मनुष्य जब अविद्यामय जीवन व्यतीत करता है तो वह अपनी ही सीमा में बन्द हो जाता है उसकी अनुभव शक्ति अपनी परिस्थितियों के महान् अस्तित्व को जानने के लिए जाग्रत् नहीं रहती। वह आत्मा के सत्य स्वरूप को नहीं जान पाता।

एक बार मैं बंगाल के एक गाँव में दो भिन्न पन्थों के सन्तों से मिला था। मैंने उनसे पूछा क्या आप अपने धर्म की विशेषता पर प्रकाश डाल सकते हैं? उनमें से एक ने किंचित् संकोच के बाद यह कहा 'इसकी परिभाषा कठिन है।' दूसरे ने कहा यह तो सरल काम है। पहले हम गुरु की देख रेख में अपनी आत्मा का ज्ञान का यत्न करते हैं जब यह काम पूरा हो जाता है तो सबमें निवास करने वाली परम आत्मा का ज्ञान भी मिल जाता है। मैंने पूछा 'तब तुम अपने सिद्धान्त का प्रचार सारे संसार में क्यों नहीं करते?' वह बोला जो प्यासा होगा वह स्वयं नदी के पास आएगा। क्या कोई आया मेरे इस प्रश्न के उत्तर में वह बड़ा थोड़ा मुस्कराया और बड़े धैर्यपूर्ण सन्तोष के साथ उसने उत्तर दिया आता ही होगा सबका।

बंगाल के गाँव का वह आस्थाशाली गवैया था। मनुष्य अपने भोजन वस्त्र की आवश्यकताओं से भी अधिक आवश्यक आत्मिक भूख को शान्त करने के लिए गीत गाया करता है (मनुष्य का निवास अपनी अमर आत्मा

की अनुभूति के लिए अनुष्ठित यात्राओं का इतिहास है। मनुष्यों ने साम्राज्यों का निर्माण किया और उन्हें अपने हाथों मिटा दिया वैभव के अम्बार भी जुटाए और निर्मोही हाथों से उन्हें धूल में मिला दिया अपने स्वप्नों की विशाल प्रतिमाएं बनाईं और पुराने खिलौनों की तरह उन्हें तोड़ दिया सदियों के प्रयत्न से निर्मित कलाकृतियों को मिटाकर नये सिरे से नई कल्पना के आधार पर बनाना शुरू कर दिया इन सबसे यही मालूम होता है कि मनुष्य एक युग से दूसरे युग में जाता हुआ प्रतिक्षण क्रम क्रम अपने सच्चे स्वरूप को जानने की आत्मबोध की आखिरी मंजिल पर पहुंच रहा है वह आत्मा जो मनुष्य में इन सब महान् निर्माणों उद्योगों और कल्पनाओं से बड़ा है इस आत्माभिमुख यात्रा में बड़े से बड़े विध्वंस और विनाश भी रुकावट नहीं डाल सकते। मनुष्य की भूलों और असफलताओं का कोई अन्त नहीं है उसका मार्ग प्राचीन अवशेषों और खण्डहरों से पटा पड़ा है उसके कष्टों की तीव्रता प्रसव की पीड़ा से कम नहीं किन्तु उसका लक्ष्य महान् है। ये कष्ट उसकी भूमिका-मात्र है। मनुष्य ने बहुत बलिदान किए हैं अभी तक वह इस बलिदान पर आगे बढ़ता जा रहा है। उसकी संस्थाएं उन मन्दिरों के समान है जहां वह प्रतिदिन अपने चमत्कारपूर्ण विशाल बलिदानों का नैवेद्य चढ़ाने आता है। यह साधना यह पूजा निष्प्रयोजन और असह्य हो जाए यदि मनुष्य अपने अन्तःकरण में अनिर्वचनीय आत्मिक आनन्द की अनुभूति न करता हो। यही आत्मा है जो अपनी दिव्य शक्ति की परीक्षा इन कष्टप्रद बलिदानों से करती है और जो त्याग द्वारा अपने अक्षय कोष का प्रमाण देती है। इस पथ के यात्री इसी मार्ग पर बढ़े हैं वे संसार में सच्चे दायित्व को लेकर आ रहे हैं उनकी कार्यशक्ति का विस्तार प्रतिक्षण हो रहा है ऊंची से ऊंची समता को पाने की ओर उनकी यात्रा निरन्तर चालू है और वे एक केन्द्रीय सत्य के जो सबको व्याप्त किए हुए है, प्रतिक्षण निकट आ रहे हैं।

मनुष्य की असमर्थताओं का अन्त नहीं। जब तक उसे अपनी आत्मा का सच्चा बोध नहीं हो जाता तब तक उसकी आवश्यकताओं का भी अन्त नहीं है सब तरफ उसकी दृष्टि में यह संसार एक सदा प्रवहमान भण्डार है एक जादू है जो समझ में नहीं आता यह भी कि वह है या नहीं।

किन्तु जिस मनुष्य ने आत्मा का बोध कर लिया है उसे समस्त विश्व का एक निश्चित केन्द्र दीखने लगता है जिसकी परिधि में चारों ओर अन्य सब वस्तुओं का अपना-अपना निर्धारित स्थान बना है। उसी केन्द्र से वह मनुष्य समतापूर्ण जीवन का विश्राम और आनन्द की अनुभूति पा सकता है।)

एक समय था जब पृथ्वी केवल तरल द्रव्यों का पुंज थी उसके कण प्रचण्ड गर्मी के कारण दूर-दूर बिखरे हुए थे अभी उसका निश्चित आकार नहीं बना था न उसमें रूप था न उसका लक्ष्य ही स्पष्ट था वह अभी केवल अग्नि और गति रूप में ही थी। धीरे धीरे एक शक्ति ने जो सब बिखरे और परस्पर टकराते कणों को केन्द्र में एकत्र कर रही थी, पृथ्वी के कणों को भी एक गोलाकार में जमा कर दिया तभी उसे सूर्य की परिधि में घूमने वाले नक्षत्रों में उचित स्थान मिला जैसे हीरों के कण्ठहार में नीलम को जगह मिलती हो। हमारी भी यही स्थिति है। जब हमारी सारी कामनाओं का वेग और ताप हमें सब ओर फैलाता है तो हम न कुछ ग्रहण कर सकते हैं और न ही कुछ दे सकते हैं। किन्तु जब आत्मनिग्रह की शक्ति द्वारा हम अपनी आत्मा में ही अपना केन्द्र पा लेते हैं उस शक्ति से जो सब संघर्षशील तत्त्वों में समता बनाती है और बिखरे कणों को एकत्र करके एकत्व स्थिर करती है तब हमारी बिखरी हुई स्मृतियाँ आत्मबोध का रूप ले लेती हैं और हमारे हृदय में उद्भूत क्षणिक वासनाएँ प्रेम में पूर्णता पा लेती हैं और हमारे विचार व कार्य अविच्छिन्न रूप में हमारी आन्तरिक समता का भाग बन जाते हैं। तभी हमारे जीवन की सब चेष्टाएँ अनन्त सत्य की ओर अग्रसर होती हुई भासित होती हैं।

उपनिषदें बलपूर्वक कहती हैं 'उसी एक को आत्मा को जानो।'[1] यही पुल है जो अमरता की ओर ले जाता है।'[2]

यही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है कि वह उस एक को जाने जो उसके अन्दर है सत्य है और उसकी आत्मा है। यही वह कुंजी है जो आत्मिक जीवन का स्वर्णिम द्वार खोलती है। मनुष्य की कामनाएँ अनेक हैं जो

१ तमेवैकं जानथ आत्मानम्।

२. अमृतस्यैष सेतुः।

संसार में विविध आकर्षणों के पीछे पागल बनी दौड़ती हैं। किन्तु उसके अन्दर जो एक है वह एकत्व का द्योतक है ज्ञान के प्रेम के और जीवन के अन्तिम लक्ष्य के एकत्व का। उसे चरम आनन्द की प्राप्ति तभी होती है जब वह असीम को उसकी बाह्य समता की परिधि में पा सका है। उपनिषदों का वचन है केवल ऐसे प्रशान्तमना मनुष्यों का ही शाश्वत सुख मिलता है जो उस एक को अपने अन्दर मे स्थित जान लेते है जो विश्व में बहुत रूपों में अपने को प्रकट करता है।'[1]

वह आत्मस्थ संसार के विविध मार्गों से सबमें स्थित एक की खोज में पर्यटन कर रहा है यही उसकी प्रकृति है यही उसका आनन्द। किन्तु उस बीमुखे रास्ते पर चलता हुआ वह कभी अपने लक्ष्य तक नही पहुंचता यदि वह उस ज्योति से स्वय प्रकाशित न हो जिसके प्रकाश में उसे अपने लक्ष्य का आभास मिलता है। उस परम लक्ष्य का आभास अपनी अन्तरात्मा मे पाना किसी बाह्य प्रयत्न का परिणाम नहीं। वह अन्तर्दर्शन है जो स्वयं होता है। उसका बाह्य प्रदर्शन नहीं होता। हमारी आँखें भी जब देखती हैं तो वस्तु के पूरे रूप का देखती हैं उसे टुकड़ों में बाँटकर नही बल्कि भिन्न टुकड़ों को एकत्र करके। देखने से पूर्व दर्शनीय वस्तु का हममे समभाव हो जाता है। यही होता है जब हमें आत्मा का बोध अन्तर्दर्शन द्वारा होता है जो आत्मा के परम आत्मा से सहज समभाव की अनुभूति के बिना नही हो सकता।

उपनिषद् का कहना है 'वह देवता जो विश्व के विविध कर्मों से स्वयं को प्रकट करता है मनुष्य के हृदय में निवास करता है। जो अनुभूति और मन की साधना द्वारा अन्तर्वासी का ज्ञान लेते हैं व अमर पद को पाते हैं।'[2]

वह 'विश्वकर्मा' है अर्थात् विश्व की विविध चेष्टाओं रूपों और शक्तियों में उसका बाह्य रूप प्रकट होता है। इसलिए प्रकृति के राज्य म जब हम सत्य की खोज करेंगे तो विज्ञान की सहायता से धीरे-धीरे अन्वेषण

---

१ एक रूपं बहुधा यः करोति तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

२ एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

विश्लेषण करेंगे किन्तु जब अध्यात्म-जगत् में उसकी खोज करेंगे तो वह सीधे अंतःज्ञान द्वारा होगी। धीरे-धीरे ज्ञानवृद्धि करते हुए हम मन्दिरों में भी उस नहीं पा सकेंगे क्योंकि वह दुमका म बंदा हुआ नहीं है एक है। उसे हम अपने हृदय का हृदय और आत्मा की आत्मा मानकर ही पा सकेंगे। अपने अहंभाव का त्याग कर हम उसके समीप जाते हैं। तब जो दिव्य प्रेम और आनन्द की अनुभूति होती है वही हमें उसका बोध कराएगी।

मानव-हृदय ने शायद इतनी हृदयस्पर्शी प्रार्थना कभी नहीं की जितनी कि हमारे ऋषियों ने इन शब्दों में की थी : हे स्वयं को प्रकाशित करने वाले ! अपने को मेरे अन्तर में प्रकाशित कर।[1] हमारे सब दुःखों का कारण यह होता है कि हम अहं के पुजारी बन गए हैं—यह अहं जो दुर्विनीत और संकीर्ण है, जो अपने से बाहर की वस्तु देखने के लिए अन्धा है और जो प्रकाश का प्रतिबिम्ब भी नहीं करता। हमारा अहं अपने ही विसंवादी स्वरों का आलाप करता है, यह वह 'वीणा' नहीं है जिसके तारों का स्वर असीम के निनाद से झंकृत हो उठे। असन्तोष, असफलताओं की थकान, बीते समय का निरर्थक पछतावा और भविष्य की निष्कारण चिन्ताएं हमारे उपवन सिल को मुरझाए रहती हैं क्योंकि हमने अपनी आत्मा को विश्वात्मा में नहीं मिलाया, स्वयं प्रकाशित ने हमारे अन्तःकरण में अपने को प्रकाशित नहीं किया। तभी हम पुकार उठते हैं, हे रुद्र ! तुम अपनी मुस्कान द्वारा नित्य हमारी रक्षा करो।[2] ये सब मौत के प्राणान्तक विष हैं जो स्वयं सृष्टि की कामना करने वाली तृष्णा की आग और धन-संग्रह के अहंकार के रूप में प्रकट होते हैं। हे रुद्र ! शक्तिशाली देवता ! इस अंधेरे कफन को फाड़ दो और अपनी प्राणदा मधुर मुस्कान की इस अन्धकार के परदे को चीरकर ज्ञान दो जो मेरी आत्मा को जगा दे।

"असत्य से मुझे सत्य की ओर, अंधेरे से प्रकाश की ओर, और मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो।" यह प्रार्थना है किन्तु इसकी पूर्ति की आशा बड़ी कठिन है। सत्य और असत्य के बीच, मृत्यु और अमरता के बीच की असीम दूरी को कैसे पार किया जा सकता है ! यह काम बड़ा कठिन है

[1] आविराविर्म एधि ।

[2] रुद्र यत् ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ।

किन्तु जब स्वयं प्रकाशित प्रभु हमारे अन्तःकरण में स्वयं को प्रकाशित करता है तो यह असम्भव प्रतीत होने वाला काम भी एक क्षण में पूरा हो जाता है। ऋषि पुकारते हैं 'हे पिता! हमारे सब पापों को दूर कर दो'[1] क्योंकि पापमय कामों से ही मनुष्य अपनी आत्मा से विद्रोह करके जगत् की सकीर्ण भावनाओं का सहयोग ग्रहण करता है। तब अहम्भावपूर्ण स्वार्थों की आत्मा पर जीत होती है। पाप हमारे अन्तःकरण की निर्मलता को धुंधला कर देते हैं। पाप में हम क्षणिक भोगों की चाह करते हैं इसलिए नहीं कि उनमें सचमुच कोई मोहकता होती है किन्तु इसलिए कि हमारी वासना का ही मायाजाल उन्हें ऐसा रंग दे देता है जिसमें वे आकर्षक दीखते हैं। हम वस्तुओं की कामना करते हैं इसलिए नहीं कि उनमें सचमुच कमनीयता या महत्ता है बल्कि इसलिए कि हमारी भूल उसे बड़ा आकार दे देती है जिससे वे बड़ी दीखने लगती हैं। छोटे को बड़ा बनाने की और वस्तुओं को मिथ्या रूप देने की यह प्रवृत्ति हमारे जीवन की समता को हर कदम पर नष्ट करती है। हम वस्तु के सच्चे मूल्य का मान नहीं कर पाते और जीवन के परस्पर विद्रोही विविध प्रलोभनों में भटक जाते हैं। अपनी विविध प्रवृत्तियों को एक ही आत्मा के शासन में न ला सकने के कारण ही हम विश्वात्मा से जुदा होने की इतनी तीव्र यन्त्रणा अनुभव करने लगते हैं कि पुकार उठते हैं 'हे पिता! हमारे सब पापों को दूर करो। हमें केवल वही दो जो कल्याणमय है'[2] वह कल्याण जो हमारी आत्मा का भोजन है। भोगों की चाह हमें अपनी कामनाओं में कैद कर देती है किन्तु कल्याण की भावना द्वारा इस कैद से छूटकर हम सबके प्रिय हो जाते हैं। जैसे बच्चा माँ के गर्भ में माता के जीवन से ही रस लेकर पुष्ट होता है उसी तरह हमारी आत्मा कल्याणकारी भावनाओं की शिराओं द्वारा ही—जो असीम से युक्त होने का एकमात्र माध्यम हैं—विश्वात्मा से जीवन लेकर पुष्ट होती है। तभी यह कहा गया है कि जो कल्याण के भूखे-प्यासे हैं वे धन्य हैं क्योंकि उनकी चाह अवश्य पूरी की जाएगी। कल्याण ही आत्मा का दिव्य भोजन है। इसके सिवा और कोई मनुष्य का परितोष नहीं कर

---

१ असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय।

२ विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव।

सकता कोई भी साधना मनुष्य को आत्मिक जीवन बिताने का साधन नहीं दे सकती। ऋषि कहते हैं 'हम उसको प्रणाम करते हैं जहाँ से हमारे जीवन का आनन्द-स्रोत प्रवाहित होता है।[1] हम उसे प्रणाम करते हैं जहाँ से हमारी कल्याण भावनाओं का उदय होता है।[2] हम उसे प्रणाम करते हैं जो कल्याणरूप और अतिशय कल्याणमय है।[3] यही वह है जिससे युक्त होकर हम शान्ति समता कल्याण और प्रेम की सब भावनाओं से युक्त हो जाते हैं।

मनुष्य अपने पूर्ण विकास की सीमा तक पहुँचने को आतुर है। यही आतुरता उसे धन-सामर्थ्य जोड़ने को प्रेरित करती है। वह नहीं जानता कि धन और शक्ति के संग्रह में उसे पूर्ण विकास नहीं मिलता। यह विकास उसे आन्तरिक प्रकाश से ही मिलेगा बाह्य साधनों से नहीं। अन्तर का दीपक जलते ही उसे मालूम हो जाता है कि मनुष्य का पूर्ण विकास उसके अन्तःकरण में ईश्वर के प्रकाशित होने पर ही होता है। तभी वह इसके लिए आत्मा के प्रदर्शन के लिए जो उसकी आत्मा में ईश्वर द्वारा स्वयं को प्रदर्शित करने से ही सम्भव है—प्रार्थना करता है। तभी मनुष्य पूर्ण होता है उसे पूर्ण प्रकाश मिलता है जब उसकी आत्मा असीम के व्यक्तित्व में अपना निवास अनुभव करती है—जो आविः है और जिसका स्वभाव ही स्वयं को प्रकाशित करना है।

मनुष्यों के सब दुःखों का मूल कारण ही यह है कि वह पूरी तरह प्रकाश में नहीं आता वह अपने अँधेरे में अपनी संकीर्ण स्वार्थमूलक कामनाओं में भटका रहता है वह अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों से बाहर नहीं निकल पाता। इसीलिए उसके हृदय में यह प्रार्थना उठती है हे प्रभु! आप मुझमें स्वयं को प्रकाशित करो। इस तरह प्रकाश्य रूप में आने की मनुष्य की इच्छा उसकी भूख-प्यास धन-संग्रह या भोग-सन्तान की सब तृष्णाओं से अधिक बलवती होगी है—क्योंकि यह उसकी प्रकृतिजन्य इच्छा है। इसे बाह्य परिस्थितियों से उत्तेजना मिलने की आवश्यकता नहीं। असीम का

---

१ नमः शम्भवाय।
२ नमः मयस्कराय च।
३ नमः शिवाय च शिवतराय।

सीमाबद्ध प्रकृति में प्रकाशित होना अव्यक्त का व्यक्त वस्तुओं में प्रदर्शित होना ही सम्पूर्ण सृष्टि-रचना का मूल है। यह स्वभाव समस्त विश्व की प्रकृति में है मनुष्य की आत्मा में भी। क्योंकि तभी एक आत्मा दूसरी आत्मा में अपने रूप के प्रदर्शन की कामना करती है और स्वतन्त्र कामना अपने स्वेच्छा से किए गए आत्मार्पण द्वारा विजित पुरस्कार को पाने की अधिकारिणी बनती है।

मनुष्य की आत्मा को विश्व के प्रभु ने अपने शासन से मुक्त किया हुआ है। अपने दैहिक व मानसिक कार्यों में—जहां उसे प्रकृति के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है—उसे अवश्य उस प्रभु की शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है किन्तु उसकी आत्मा प्रभु की छत्रछाया में रहने व न रहने का पूर्णत स्वतन्त्र है। यह क्षेत्र ऐसा है जहां प्रवेश पाने के लिए आत्मा को प्रेम-विजय पानी होती है। यहां प्रेम प्रभु बनकर नहीं अतिथि बनकर आता है इसलिए उसे अन्तरात्मा के बुलावे की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। मनुष्य की आत्मा के साम्राज्य में विश्व-प्रभु न अपना अनुशासन नहीं रखा—यहां वह स्वयं प्रभु की चाह लेकर आता है। उसकी समस्त शक्तियां —प्रकृति के नियम—इस द्वार के बाहर रहती हैं। इसकी सीमा के अन्दर केवल सौन्दर्य आ सकता है जो प्रेम का प्रथम सन्देशहर बनकर आता है।

आत्मा की इस नगरी में ही प्रभु ने विद्रोह का अधिकार दिया है। केवल मनुष्य की आत्मा मे ही विषमता असत्य और अराजकता का अस्तित्व होता है। जब यह अराजकता सीमा पार कर जाती है तो हम पुकार उठते हैं 'यदि सचमुच कोई प्रभु होता तो ऐसी अंधेरगर्दी कदापि न होती। नि सन्देह यहां हमारा प्रभु केवल साक्षी बनकर देखता है तटस्थ रहकर सारी उच्छृंखलताओं को निरपेक्ष भाव से सहन करता है और यदि हम आत्मा के द्वार बन्द कर लें तो कभी उन्हें बलपूर्वक नहीं खोलता। क्योंकि हमारी आत्मा को किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहीं—बल्कि प्रेम से ही पूर्णता पानी है और स्वतन्त्र इच्छा से ही अपने प्रभु में विलीन होकर मिलना है।

जिसकी आत्मा का इस तरह प्रभु म मिलन हो चुका है वह मानव-उपवन का पुष्प बन जाता है। क्योंकि उस मिलन में ही आदि का

प्रस्फुटन मनुष्य की आत्मा में होता है और वहीं मनुष्य के अन्तःकरण से विश्वात्मा की ओर मनुष्य प्रेम की विश्व के अमर प्रेम से एकात्मता होती है।

इसीलिए हमारे देश में प्रभु भक्तों का इतना आदर होता है। पश्चिम के देश इसे पाखंड कहेंगे। हम उस भक्त में प्रभु के पूर्ण आनन्द को पुष्पित होता अनुभव करते हैं। उसका जीवन प्रभु प्रेम से दीप्त होता है जिसका प्रकाश हमारे पार्थिव प्रेम को उज्ज्वल बनाता है। हमारे जीवन की आन्तरिक भावनाएं युग-युग की अनुभूतियां इस दिव्य प्रेम की सीमा को स्पर्श करने के लिए चारों ओर एकत्र हो जाती हैं और जो अभिनय करती हैं उसीकी छाया हम प्रभु प्रमी के जीवन में देखते हैं। इस असीम रहस्य का स्पर्श हमारी साधारण प्रवृत्तियों को संगीत के स्वर में बांध देता है। समस्त पुष्पों तारों और पवतमालाओं में हमें एक ऐसी क्षाणिक प्रतिमा का आभास होने लगता है जो किसी ऐसी रहस्यमय बात को कहने के लिए आतुर है जो शब्दों में नहीं लाई जा सकती। जब मनुष्य की आत्मा अपने 'अहं' के परदे को उठाकर अपने प्रेमी प्रभु के सम्मुख आती है तो वह विधाता की नई-नई रचनाओं में लीन पाती है। उसका प्रेमी कलाकार है। अपनी कला में वह नये-नये रूपों में स्वयं प्रकट होता है और हर रूप में उसका सौन्दर्य बढ़ता जाता है। हमारी प्रेमी आत्मा इस नित्य नये रूप को मुग्ध भाव से देखती रहती है।

*मनुष्य का हृदय जब विविध भोगों के रास्तों से लौटकर आत्मा से* मिलता है तो असीम का बोध उसके लिए स्वभावतः स्वयं प्रकाशित हो जाता है जैसे अग्नि की ज्वालाओं का स्वाभाविक प्रकाश। जब जीवन के सब संघर्ष व द्वन्द्व शान्त हो जाते हैं ज्ञान प्रेम और कर्म में एकरसता आ जाती है सुख और दुःख में समता हो जाती है भोग और त्याग दोनों का कल्याण की भावना से एकत्व हो जाता है सीमित व असीम की खाई प्रेम से भर जाती है उस समय प्रत्येक क्षण अनन्त का सन्देश देता है, निर्गुण भी सुवासित पुष्प के रूप में प्रकट होता है, निराकार अनन्त हमें पिता के तुल्य अपनी भुजाओं में भर लेता है और मित्र की तरह हमारे साथ चलता है। यह हमारी आत्मा ही है—जो स्वभाव से ही सब सीमाओं को पार कर

सकती है और विश्वात्मा से समभाव बना लेती है। जब तक यह समभाव नहीं बनता तब तक हमारा जीवन केवल कुछ अभ्यासवित कार्यों का जीवन रहता है। तब तक संसार एक यन्त्र-सा प्रतीत होता है जिसका उपयोग करने के लिए उसपर अधिकार किया जाता है और जिसके प्रहारों से बचने के लिए अपनी सुरक्षा के साधन जुटाए जाते हैं। तब तक हम यह नहीं सोच सकते कि यह ससार हमारा समभागी साथी है अपनी प्राकृतिक परिस्थितियों में और जीवन के क्षेत्र म भी।

# पाप की समस्या

संसार में बुराई क्यों है, यह प्रश्न वैसा ही है जैसा यह कि संसार में अपूर्णता क्यों है—अथवा यह कि संसार की रचना का अर्थ ही क्या है? हमें यह मान लेना पड़ेगा कि उसके सिवा और कुछ सम्भव ही नहीं था; रचना का अपूर्ण होना—धीरे-धीरे विकसित होना अनिवार्य था। और यह प्रश्न भी निरर्थक है कि 'हमारा अस्तित्व किसलिए है?'

वस्तुतः प्रश्न यह होना चाहिए: यह अपूर्णता ही क्या अन्तिम सत्य है? क्या बुराई अनिवार्य और यथार्थ है? नदी की सीमा होती है, उसके दो तट; किन्तु क्या ये तट ही नदी रूप हैं, अथवा उन तटों में क्या नदी की यथार्थता है? क्या पानी के बहाव को बांधने वाले ये तट ही नदी को आगे बहने में सहायता नहीं देते?

संसार के प्रवाह की भी मर्यादाएं हैं, किनारे हैं। उनके बिना इसका अस्तित्व ही न होता, किन्तु संसार का अर्थ इसकी अवरोधक मर्यादाओं में नहीं बल्कि उस गति में है, जो पूर्णता की ओर हो रही है। संसार का चमत्कार यह नहीं है कि यहां कष्ट और बाधाएं हैं बल्कि इसमें है कि यहां व्यवस्था, सौन्दर्य, आनन्द, कल्याण और प्रेम का वास है। सबसे बड़ा चमत्कार है इस कल्पना में कि मनुष्य में ईश्वर का वास है। मनुष्य ने अपने जीवन की गहराई में यह अनुभव किया है कि जो अपूर्ण प्रतीत होता है वह पूर्ण का ही प्रस्फुटन है, विकसित होते रूप का प्रदर्शन है, जैसे किसी राग की [illegible] सरगम में कोई संगीतप्रिय व्यक्ति विकसित होते हुए राग की पूर्णता को अनुभव करता है। मनुष्य ने अपनी अनुभूति में इस पहेली का अर्थ समझ लिया है कि जो सीमित है वह सीमाओं में भी बंधा हुआ नहीं है

उसमे गति है जो प्रतिक्षण उन बन्धनो को तोड़ती जाती है। सच यह है कि अपूर्णता का अभिप्राय पूर्णता से निषेध का नहीं है सीमितता असीमता की विरोधिनी नहीं है। वस्तुतः अपूर्णता में भी वस्तु के विभिन्न भागों में पूर्णता और सीमितता में भी सीमित टुकड़ों में असीमता रहती है।

दुःख हमारे जीवन का स्थायी भाग नहीं है। आनन्द की तरह यह हमारे जीवन का ध्येय नहीं है। दुःख उठाते हुए भी हम यह जानते हैं कि जगत् के स्थायित्व में दुःख का महत्त्व नहीं है। यह उस भूल की तरह है जो बुद्धिमान के जीवन में भी होती है। विज्ञान का इतिहास भी भूलों से खाली नहीं किन्तु विज्ञान को इन भूलों की कड़ियों से निर्मित नहीं मान सकते। विज्ञान के इतिहास में स्मरणीय वस्तु सदा विकासशील सत्य की अभिप्राप्ति है न कि उसकी अनगिनत भूलें। स्वाभाविक भूल स्थायी नहीं होती सत्य के साथ सदा नहीं रह सकती एक मुसाफिर की तरह उस उस सराय से तुरन्त निकलना पड़ेगा जैसे ही वह पूरा मूल्य नहीं चुका पाएगा।

जिस तरह विचार-जगत् की भूलों और बुराइयों में स्वाभाविक अस्थायीपन है उसी तरह अन्य बुराइयों में भी है। अस्थायीपन इसकी प्रकृति है क्योंकि यह उस वस्तु के साथ समभाव से नहीं रह सकती। प्रतिक्षण उस वस्तु का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसके साथ संघर्ष करके इसको बदलने में व्यस्त रहता है। हम दोष को स्थिर मानकर इसका महत्त्व बढ़ा देते हैं। किन्तु सच यह है कि बुराई का रूप सदा मिटता-बदलता रहता है अपने व्यापक से व्यापक रूप में भी यह हमारे जीवन के प्रवाह को सफलतापूर्वक अवरुद्ध नहीं कर सकती इतने अवरोध होते हुए भी पृथ्वी पानी और आकाश में सदा मधुर सजीवन बना रहता है। बुराई को मापने के लिए हम जिस गणना-शैली का उपक्रम करते हैं वह दोषपूर्ण है। इस उपक्रम की गणनीय वस्तुओं का जो महत्त्व हमारे मस्तिष्क में बन जाता है वह सच्चा नहीं होता। वह क्षणिक ही होता है। एक जासूस को जब अपराधों की खोज का अवसर मिलता है तो वह उस मामले को ही जीवन मरण का प्रश्न समझ लेता है उस मामले की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में कितनी महत्ता है यह उसकी कल्पना में नहीं आता। विज्ञान जब प्राणी

जगत् के जीवन-संघर्ष को चित्रित करता है तो यही दीखता है कि प्रकृति में खूनी दाँतों और पंजों का ही प्राधान्य है। इन चित्रों के रंगों को स्थायी समझना, जबकि ये रंग काफूर होने वाले हैं भारी भूल है। यह हवा के उस भार को तौलने के सदृश है जो हमारे शरीर के प्रत्येक वर्गइंच पर होता है और उस भार से शरीर के कुचले जाने की कल्पना करता है। हर भार के साथ उसे वहन करने की व्यवस्था भी प्रकृतिदत्त है जिससे हम उस भार को बहुत हल्केपन से वहन करते हैं। प्रकृति में जीवन-संघर्ष के साथ जीवनदायी शक्तियाँ भी हैं। संघर्ष के साथ प्रेम और आत्मत्याग भी है जो नये जीवन को देता है।

यदि हम अपने दृष्टि-रूपी प्रकाश-क्षेपक-यन्त्र की रोशनी मृत्यु के रूप पर केन्द्रित कर दें तो सारा जगत् एक विशाल कब्रस्तान प्रतीत होगा। किन्तु, सच यह है कि जीवन की यात्रा करते हुए मृत्यु की कल्पना हमें बहुत कम प्रभावित व विचलित करती है। यह इसलिए नहीं होता कि मृत्यु बहुत अस्पष्ट है किन्तु इसलिए कि यह जीवन का निषेधात्मक रूप है *इसी तरह इसकी गणना नहीं होती। जिस तरह देखने के समय पलक* झपकने की गणना नहीं होती देखने को ही महत्त्व दिया जाता है।

जीव अपने पूर्ण रूप में मृत्यु को महत्त्व नहीं देता। मृत्यु के सामने भी वह हँसता खेलता और नाचता है निर्माण व संग्रह करने में अन्तिम क्षण तक लगा रहता है। मृत्यु को जीवन से अलग करके जब हम देखते हैं तभी हम इसके भयानक रूप से डरते हैं। तब हम उस जीवन के सम्पूर्ण रूप को अगोचर कर देते हैं जिसका मृत्यु एक अंश-मात्र है। यह देखना कपड़े के एक टुकड़े को सूक्ष्मवीक्षण से देखने के तुल्य भूल है। इस यन्त्र से देखने पर वह टुकड़ा एक बड़े छिद्रों वाली जाली-सा दीखता है हम उन छिद्रों पर नजर गड़ा देते हैं और चौंक जाते हैं किन्तु यथार्थ यह है कि ये छिद्र ही कपड़ा नहीं हैं मृत्यु ही जीवन की सचाई नहीं है। यह जाली उसी तरह दीखती है जैसे आकाश नीला दीखता है। नीला आकाश पक्षियों के पंखों को नीला नहीं करता। उसी तरह मृत्यु हमारे जीवन को अपने रंग से नहीं रंगती।

जब हम किसी शिशु को चलने की कोशिश में देखते हैं तो जितनी ही

बार गिरते-पड़ते देखता हैं पश्च तो वह दो कदम हा पाता है। इस निरी क्षण को यदि हम समय के हग दायरे में बांध दें तो यह दृश्य बड़ा कारु-णिक होगा। किन्तु, हम देखते हैं कि बारबार की असफलता के बाद भी बच्चे में आनन्द भरा उत्साह रहता है जो उसे इस असभव-से प्रतीत होने वाले काम म उत्साह रहता है। बच्चा अपने बारबार गिरने को भूलकर केवल अपनी कामयाबी को ही—जो उसे थोड़ी-सी देर समझकर दो कदम चलने म हुई है—याद करके किलकारियां मारने लगता है।

बच्चे के चलना सीखने की कोशिश के समान जीवन की अन्य चेष्टाओं में भी हमें कष्टों का अनुभव होता है। प्रतिदिन हमें अपने ज्ञान सामर्थ्य और उनके इच्छापूर्वक प्रयोग की याग्यता में भारी अपूर्णता प्रद शित करनेवाली घटनाओं में गुजरना पड़ता है। किन्तु यदि य घटनाएं केवल हमारे सामने हमारी असमर्थताओं का ही चित्रण करें तो हम गहरी निराशा में डूबकर मर जाएं। अपने कार्यों के सीमित क्षेत्र को ही निरीक्षण का विषय बनाने पर हमारी व्यक्तिगत दुबलताएं और दुःख भरी अनु-भूतियां हमारे मन को घेर सकती हैं। किन्तु हमारा जीवन स्वयमेव हमे प्रेरित करता है कि हम व्यापक दृष्टिकोण से उन घटनाओं का देखें। यही प्रेरणा है जो हमें वतमान सीमाओं से उठकर देखने योग्य पूणता का आदर्श बतलाती है हमें अपने अन्तर् में ही आशा का वह दीप मिल जाता है जो सदा हमारे वतमान के सकीर्ण अनुभवों से आगे रहकर, हमें वत मान की सीमाओं से बाहर ले जाता है यह हमारे अन्तर् म रहनेवाले असीम के प्रति हमारी अगर आस्था यह हमारी भूलों व अयोग्यताओं को कभी स्थायी सत्य नहीं मानती यह अपने कार्यक्षेत्र की कोई सीमा नहीं बांधती यही आशा है जो मनुष्य और ईश्वर में एकात्मता मानती है और जिसने सुन्दर स्वप्न प्रतिदिन सच्चे होते दीखते हैं।,

असीम की ओर ज्ञानदृष्टि मोड़ने पर ही हम सत्य का दशन करते हैं। सत्य का स्थान सकीर्ण वतमान में नहीं है हमारे तात्कालिक भोगों में नहीं है वह तो उस चेतना में है जो हम अपनी अधिकृत वस्तुओं म अपने ध्येय का आभास देती है। जान या अनजान मे हम जीवन म सत्य की ऐसी प्रतीति होती रहती है कि वह दृश्यमान रूप से अधिक विस्तृत है कारण

कि हमारा जीवन सदा विस्तीर्ण असीम के सामने रहता है और उसी ओर गतिशील रहता है। इसीलिए हमारे जीवन की आकांक्षाएं अपनी उपलब्धियों से असीमित विस्तीर्ण रहती हैं और अपनी यात्रा में आगे बढ़ते हुए उसे कभी यह अनुभव नहीं होता कि सत्य के साथ में आज वह परमता की सीमाओं से घिरे मरुस्थल में भटक गया है। यह बोध उसे और आगे की मंजिल पर ले जाता है। कोई भी बुराई किसी भी चौराहे पर जीवन की गति को बांधकर नहीं रख सकती और न ही जीवन को उसकी विभूतियों से रिक्त कर सकती है। क्योंकि बुराई को गुजर जाना है भलाई न ठहराकर बढ़ना है अत: वह नहीं मोर्चा बनाकर उससे युद्ध नहीं कर सकती। यदि कोई छोटी से छोटी बुराई भी स्थिर रूप से कहीं जड़ें जमा ले तो वह स्वयं गहरे में जाकर अपनी जड़ें काटती है। मनुष्य बुराई में उसी तरह विश्वास नहीं करता जिस तरह वह यह नहीं मानता कि किसी भी अत्यन्त बेसुरी वीणा का उद्देश्य ही विसंवादी स्वरों के प्रलाप से दूसरों को सन्ताप पहुंचाना हो सकता है। यद्यपि गणना से यह स्पष्ट हो सकता है कि संसार में सफलता की अपेक्षा असफलता अधिक है और एक स्वर-साधक के पीछे हजारों कर्कश स्वर में बजाने वाले व्यक्ति विद्यमान हैं फिर भी मनुष्य को वीणा के उद्देश्य में कभी सन्देह नहीं हुआ। वह प्रत्यक्ष के विषम अनुभव से भविष्य को नहीं नापता। भविष्य की पूर्णता-समर्थक सम्भावनाएं वर्तमान की अपूर्णता को ढांप लेती हैं।

निःसन्देह ऐसे व्यक्ति हैं जो जीवन के अस्तित्व को ही अभिशाप मानते हैं किन्तु मनुष्य इन निराशावादियों पर कान नहीं देता। उनकी निराशा के पीछे उनकी भावना या बुद्धि के विपर्यय का कोई न कोई कारण छिपा होता है। जीवन स्वयं आशावादी है। वह सदा आगे बढ़ता है। निराशा मानसिक रोग का एक रूप है इसे स्वास्थ्यप्रद भोजन से अरुचि है और वैराग्य की तीव्र मदिरा का अभ्यास है। निराशा ऐसी स्वाभाविक उदासी को जन्म दे देती है जो बहुत तेज शराब की प्यासी रहती है। जीवन यदि अभिशाप होता तो किसी विचारक के कहने से नहीं—स्वयं ही प्रकट हो जाता। इसे अभिशाप कहना किसी स्वस्थ, सुन्दर व्यक्ति पर स्वयं ही आत्मघात का अपराध लगाना है। जीवन का अस्तित्व ही अपनी बड़ाई

के आरोप का खण्डन कर रहा है।

जो अपूर्णता अपूर्णता-मात्र न होकर पूर्णता के आवरण में साथ है वह सदा अनुभूति के मार्ग पर बढ़ रही है। हमारी बुद्धि का यह काम है कि वह असत्य में से सत्य का बोध करे अपूर्णता में से पूर्णता की अनुभूति करे। भूलों का निरन्तर करते रहकर सत्य के प्रकाश को मुक्त करना ही ज्ञान है। हमारी धारणा हमारे चरित्र को सदा दुरित भावनाओं से युद्ध करके पूर्णता पानी पड़ती है—हमारे आन्तरिक जीवन में बाह्य जीवन में या दोनों ही में। हमारी प्राणाग्नि जीवन की शिखा को दीप्त रखने के लिए प्रतिक्षण बाह्य शरीर के तत्त्वों को जला रही है इसी तरह हमारे नैतिक जीवन की दीप्ति के लिए भी समिधाएं हैं। यह यज्ञ—जीवन का क्रम—चल रहा है हमने इसका साक्षात् किया है और इसे देखकर हमने यह विश्वास स्थिर किया है कि मानव की गति अकल्याण से कल्याण की ओर है। क्योंकि हम यह अनुभव करते हैं कि कल्याण मनुष्य की प्रकृति का भावात्मक तत्त्व है जो प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में मानव का आदर्श रहा है।

आप पूछेंगे कल्याण क्या है हमारी नैतिक प्रकृति से क्या अभिप्रेत है ? मेरा उत्तर है जब मनुष्य अपना विस्तृत रूप देखने लगता है जब उसे यह बोध होने लगता है कि वह वर्तमान में प्रतीत होनेवाले रूप से विशाल है तब वह अपनी नैतिक वृत्तियों का ज्ञान पाने लगता है तब वह अपने भावी अस्तित्व की झलक पाता है और उसका आज तक छिपा रूप उसके वर्तमान रूप से अधिक सत्य प्रतीत होने लगता है। स्वभावतः उसकी जीवनशक्ति में परिवर्तन हो जाता है और उसकी कामनाएं आत्मशक्ति में बदल जाती हैं। क्योंकि आत्मशक्ति ही उसके विस्तृत जीवन की कामना है उस जीवन की जो हमारे वर्तमान की परिधि से दूर है और जिसके अधिक अंश हमारी दृष्टि से ओझल रहते हैं। तब हमारे संकीर्ण व्यक्तित्व का विस्तृत व्यक्तित्व से संघर्ष होता है हमारी कामनाओं का आत्मशक्ति से और इन्द्रियगम्य भोगों का हमारे अन्तःकरण की प्रवृत्तियों से संघर्ष होता है। तभी हम तात्कालिक आनन्द देनेवाली वासना और कल्याणमयी वृत्तियों में भेद करने लगते हैं। क्योंकि कल्याण वह है जो हमारे विशाल व्यक्तित्व के लिए कल्याणकर हो। इस तरह कल्याण का

विवेक हमें जीवन के अनिश्चित सत्य दर्शन द्वारा प्राप्त होता है। इस दर्शन में वर्तमान ही नहीं भविष्य के उस रूप का दर्शन भी है जो हमारी साधारण दृष्टि के लिए परोक्ष में रहता है और जिसका प्रत्यक्ष देखना मानव के लिए सम्भव ही नहीं है। मनुष्य उस अवस्था में उस तिरोहित जीवन को वर्तमान में प्राप्त जीवन की अपेक्षा अधिक अनुभव करने लगता है। इस लिए वह अपनी वर्तमान वासनाओं का अधूरा भविष्य के लिए अर्पण करने को तैयार हो जाता है। इसी अर्पण में वह महान् बनता है क्योंकि इसी द्वारा वह सत्य का अनुभव करता है। स्वार्थ की सफल पूर्ति के लिए मनुष्य को इस सत्य का आश्रय लेना पड़ता है और अपने क्षणिक आवेगों का संयम करना पड़ता है—अथवा दूसरे शब्दों में नैतिक व सदाचारी होना पड़ता है। क्योंकि हमारी नैतिक शक्ति वह शक्ति है जो यह जताती है कि जीवन टुकड़ों में बंटा हुआ नहीं है और यह कि जीवन निरुद्देश्य या अनेक असंगतियों का मिश्रण भी नहीं है। मनुष्य की यही नैतिक चेतना है जो उसे यह जानने की योग्यता भी देती है कि मनुष्य की आत्मा काल भेद होने पर भी एकरस रहती है और यह भी कि मनुष्य स्वार्थ की परिधि में बंधकर अपना व्यक्तित्व खो देता है। मनुष्य वास्तविकता में उतनी अनुकूलता अनुभव नहीं करता जितनी कि अदृश्य सत्य में। वह उन आत्माओं का संगी है—जो उसके व्यक्तित्व से दूर की हैं जिनके साथ उसका साक्षात् शायद सम्भव ही नहीं है। जिस तरह मनुष्य को अपने भविष्य में बनानेवाले व्यक्तित्व का एक आभास-सा रहता है। उसी तरह उस अपने व्यापक व्यक्तित्व का भी आभास रहता है ऐसा कोई भी नहीं होगा जिसे यह प्रतीति न हो या जिसने अपने स्वार्थों का किसी दूसरे के हित में कभी त्याग न किया हो या स्वयं दूसरे की प्रसन्नता के लिए स्वयं हानि या कष्ट न उठाया हो। सच यह है कि मनुष्य विश्व से निर्लिप्त नहीं हो सकता उसका व्यापक रूप भी है और जब उसे भान होता है तो वह महान् हो जाता है। अधम से अधम स्वार्थी भी जब इस बात को स्वीकार कर लेता है जब वह अधम कार्य के लिए शक्ति-संग्रह करता है क्योंकि वह सत्य की उपेक्षा करके शक्ति का संचय नहीं कर सकता। अतः सत्य की महानता का अधिकारी बनने के लिए ही स्वार्थ को कुछ हद तक निःस्वार्थ बनना

पड़ता है। डाकुओं के दल भी परस्पर सहयोग को दृढ़ बनाने के लिए नैतिक सचाइयों का आश्रय लेंगे, वे चाहे दुनिया को लूटेंगे ठगेंगे किन्तु आपस में सच्चे रहेंगे। अनैतिक कार्यों का पूरा करने के लिए भी कुछ नैतिक हथियारों की सहायता आवश्यक हो जाती है। और सच तो यह है कि बहुत अवसरों पर हम अपने चरित्र-बल से ही पाप के काम सफलता से पूरा कर पाते हैं। अपने स्वार्थों के लिए दूसरों को ठग पाते हैं उनके अधिकारों को कुचलकर अपना प्रभुत्व जमाते हैं। पशु का जीवन चरित्रहीन होता है क्योंकि उसे केवल तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है मनुष्य का जीवन चरित्रहीन नहीं चरित्रभ्रष्ट होता है जिसका अर्थ यह है कि उसका आधार चरित्र ही होगा। दुश्चरित्र का अर्थ चरित्र की अपूर्णता से है जैसे झूठ का अर्थ सत्य की आंशिक अपूर्णता से है। जिस तरह कोई भी सत्य आंशिक सत्य है उसी तरह कोई भी झूठ आंशिक झूठ होगा। देखने की अक्षमता होना अन्धा होना है किन्तु ठीक ढंग से न देख पाना देखने के ढंग की अपूर्णता है। यह दृष्टि का दोष नहीं बल्कि दर्शन प्रकार का दोष है। मनुष्य के स्वार्थभाव का प्रारम्भ तभी होता है जब वह जीवन का कोई प्रयोजन देखने लगता है किन्तु उस प्रयोजन को पूरा करने के लिए उसे आत्मसंयम व चरित्र-बल की आवश्यकता पड़ती है। स्वार्थी मनुष्य भी स्वेच्छा से कष्ट उठाता है क्योंकि उसे मालूम है कि यह कष्ट अल्पकाल की दृष्टि से ही कष्ट है भविष्य की विस्तृत दृष्टि से देखने पर यह कष्ट ही लाभ में बदल जाएगा। इसीलिए अल्प दृष्टि वाले के लिए जो हानि है वही विशालदृष्टि मनुष्य का लाभ हो जाता है।

जो व्यक्ति सदा व मानव-मात्र के कल्याण के लिए जीता है उसके जीवन का प्रयोजन बहुत व्यापक हो जाता है वह अपने भाग के कष्टों को कुछ नहीं मानता। कल्याणमय जीवन बिताना सबके लिए जीना है। सुख से अपने अकेले का सम्बन्ध है किन्तु कल्याण से मानव-मात्र के सम्बन्ध हैं। कल्याण और पूर्ण कल्याण में जाना, असीम में अपने जीवन की अनुभूति पाना है। जीवन का यह बहुत ही व्यापक अर्थ है जिसे हम आत्मिक दृष्टि से जीवन की पूर्णता को अनुभव करते व करते हुए ही समझ सकते हैं। बुद्ध ने इसी आत्मिक दृष्टि को सबल बनाने का उपदेश दिया था

ईसा के स्वर्गीय जीवन की भी यही दृष्टि है। जब हम इस व्यापक जीवन को, जो हमारा आत्मिक जीवन भी है, पा लेते हैं तो सुख-दुःख के बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं और यह मन द्वारा खाली किया गया स्थान अनिर्वचनीय आनन्द से, जो अनन्त प्रेम से पैदा होता है, भर जाता है। तब आत्मा की शक्तियाँ और भी प्रखर हो जाती हैं, उनकी प्रेरक भावना वासनाएं नहीं बल्कि स्वार्थरहित प्रेम ही होता है। यही गीता का कर्मयोग है। यही 'निष्काम' कर्मों द्वारा विश्व के कार्यशील जगत् में एकात्मता स्थापित करने का उपाय है।

बुद्ध ने जब मनुष्य को दुःखों से मुक्त करने की साधना की थी तो वह भी इसी सत्य पर पहुंचे थे कि व्यक्तित्व को विश्वात्मा में विलीन करने के बाद ही मनुष्य अपना परम लक्ष्य पाता है, तभी उसे दुःखों से निर्वाण मिलता है।

एक बार मेरे एक विद्यार्थी ने आंधी के उपद्रव से तंग आकर मुझसे कहा कि उसे यह बात बड़ा मानसिक कष्ट दे रही थी कि प्रकृति ने आंधी के समय उसके साथ ऐसा व्यवहार किया था मानो वह मुट्ठी भर मिट्टी का पुतला हो। उसने यह भी कहा 'मैं अपनी बाह्य परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता क्योंकि मेरा अपना अलग व्यक्तित्व है।'

मैंने उत्तर दिया, 'यदि हमारी व्यक्तिगत स्थिति का ध्यान रखकर प्रकृति अपने मार्ग से हट जाए तो व्यक्तियों को ही अधिक हानि होगी।'

किन्तु उसका समाधान नहीं हुआ। वह कहता रहा कि मैं अपने 'सोऽहं' का भाव नहीं भूल सकता। यह अहं अपना महत्त्व अपने व्यक्तित्व में ही खोजता है।

मैंने कहा कि इस अहं का सम्बन्ध उससे भी है जो अहं-हीन है। अब हमें एक ऐसा सम्बन्ध चाहिए जो दोनों पक्षों का एकरूप आत्मीय हो, जिसपर यह विश्वास किया जा सके कि यह 'अहं' और 'नाहं' दोनों को एक दृष्टि में लगाता है।

यही बात मैं यहां दोहराता हूं। हमें याद रखना चाहिए कि स्वभाव से ही हमारा व्यक्तित्व विशाल विश्व में एकता की इच्छा रखता है। हमारी आंखों का मुख्य प्रयोजन ही नहीं है यदि वे केवल स्वयं को देख सकें।

हमारा व्यक्तित्व जितना शक्तिशाली होगा उतने ही बल से वह विश्व की विशालता की ओर खिंचेगा। क्योंकि उसकी शक्ति का केन्द्र स्वयं उसमें नहीं बल्कि विश्व में है उसी तरह जैसे झील की गहराई पृथ्वी में खुदी हुई खाई से नहीं मापी जाती पानी की सतह से मापी जाती है।

इसलिए, यदि यह सच है कि हमारी प्रकृति का परितोष वास्तविकता की प्राप्ति में है और वह अपनी कल्पित रचनाओं में ही सन्तुष्ट नहीं होती तो प्रकृति के लिए यही सबसे अच्छा है कि वह उन वस्तुओं से उनके स्वभावसिद्ध नियमों के अनुसार ही व्यवहार करे। इस कठोर सत्य के कारण कभी-कभी हमें कष्ट उठाना पड़ेगा—उसी तरह जिस तरह पृथ्वी की कठोरता से पृथ्वी पर चलना सीखनेवाले बच्चे को बारंबार गिरकर चोट खाकर उठाना पड़ता है, तो भी उसे समझना चाहिए कि यह कठोरता ही पृथ्वी का ऐसा गुण है जो बच्चे को चलना सीखने में सहायता देता है।

एक बार की बात है। पुल के नीचे से जाती हुई मेरी नाव का मस्तूल पुल की शहतीर में उलझ गया। यदि एक क्षण के लिए भी पुल अपनी पीठ ऊपर को उठा सकता, जैसे जंभाई लेती हुई बिल्ली उठाती है या मेरा मस्तूल ही नीचे झुक सकता तो मामला सुलझ जाता। किन्तु दोनों ने मेरी कठिनाई पर ध्यान नहीं दिया। दोनों अपनी स्थिति पर दृढ़ रहे। यह दृढ़ता उस समय अखरी किन्तु जब यह सोचा कि इस दृढ़ता के कारण ही हम पुल का उपयोग कर सकते हैं और मस्तूल पर भरोसा कर सकते हैं तब सन्तोष हुआ। वस्तुएं जैसी हैं वैसी रहेंगी उनका उपयोग करने के लिए उनकी स्थिर प्रकृति का ज्ञान करना हमारा कर्तव्य है। उनके स्वभाव में स्थिरता न हो तो उनका ज्ञान संभव ही नहीं होता। हम उन्हें इसी कारण जान पाते हैं कि हमारी इच्छाएं ही उनका संचालन नहीं करतीं। उनके अपने नियम हैं और वे स्थिर नियम हैं। तभी हमारा ज्ञान स्थिर होता है। इस ज्ञान में आनन्द है। ज्ञान द्वारा ही हम बाह्य वस्तुओं से अपना सम्बन्ध बनाते हैं उन्हें आत्मीय बनाते हैं और इस तरह अपनी आत्मा की सीमाओं को विशालता देते हैं।

जीवन के हर कदम पर हमें अपने से बाहर की वस्तुओं का ध्यान रखना पड़ता है। केवल मृत्यु में ही हम अकेले होते हैं। कवि तभी कवि है जब वह अपनी व्यक्तिगत भावनाओं को सबके लिए मानन्ददायी रूप दे सके। ऐसा वह नहीं कर सकता यदि श्रोताओं में कोई ऐसी मध्यस्थ एकता न पा सके जो सबमें विद्यमान हो। यह उन सबकी भाषा होनी चाहिए। कवि का कार्य है कि वह उस भाषा को पहचाने। तभी उसका काव्य अमरता प्राप्त करेगा।

मनुष्य का व्यक्तित्व ही सबसे ऊंचा सत्य नहीं है उसमें उससे भी ऊंची एक सत्ता है जो सम्पूर्ण विश्व से सम्बन्ध रखती है। अगर उसे ऐसी जगह रहना पड़े जहां वह अपने सिवा किसीके सम्पर्क में न आए तो वह उसके लिए भयंकर कारागार हो जाए, क्योंकि मनुष्य का मन अपनी गहराई में सदा सबसे युक्त होकर, महान् से महत्तर होने की कल्पनाएं किया करता है, यही उसका प्रगाढ़तम आनन्द है। यदि सबमें एक ही नियम काम न कर रहे हों तो यह असम्भव हो जाए। उन नियमों के ज्ञान व अनुसरण द्वारा ही हम महान् बनते हैं विश्व का अनुभव करते हैं। और इसके विपरीत अगर हमारी व्यक्तिगत इच्छाएं विश्व नियमों की प्रतिगामिनी हों तो हम दुःख का और क्षुद्रता का अनुभव करते हैं।

एक समय था जब हम प्रकृति के नियमों को अपने से जुदा मानते थे। किन्तु अब यह जान गए हैं कि वे भी हमारे ही हैं। विश्व व प्रकृति की शक्ति हमारी अपनी शक्ति है। विज्ञान की सहायता से हमें प्रकृति के नियमों का ज्ञान अधिक हो गया है अतः हम अधिक शक्तिशाली हो गए हैं विश्वशक्ति से हमारी समीपता बढ़ गई है हमारी दृष्टि-शक्ति हमारी सभी ऐन्द्रिक शक्तियां विश्वव्यापी क्षेत्र में फैल गई हैं। वाष्प और विद्युत् हमारी नाड़ियां और मांसल पिण्ड बन गए हैं। जैसे शरीर के गठन में परस्पर अंगों का ऐसा सामंजस्य है कि हम सम्पूर्ण शरीर को अपना कह सकते हैं उसी तरह विश्व के गठन से भी हमारा ऐसा सम्बन्ध बन जाता है कि सारा संसार हमें अपने ही देह का व्यापक रूप दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी क्षुद्र कमजोरियों का कारण केवल यह है कि हम इस उचित बात को अनुभव करने की योग्यता से वंचित हैं।

सच तो यह है कि हमारी शक्तियों का कोई अन्त नहीं—क्योंकि हम विश्व शक्ति के दायरे से जो विश्व के नियमों का ही प्रकट रूप है बाहर नहीं हैं। विज्ञान ने हमें विश्वात्मा को उसके भौतिक रूप में देखने का भी नया दृष्टिकोण दिया है। इसीलिए हम दुःख दारिद्र्य रोग और मृत्यु पर भी विजय पाने का उद्योग कर रहे हैं। इस उद्योग में हमने यह ज्ञान पाया है कि दुःख रोग और दरिद्रता आदि सबका निदान केवल हमारी व्यक्तिगत आत्मा का विश्वात्मा से समभाव स्थापित नहीं हो पाना ही है।

यही स्थिति हमारे अध्यात्म जीवन पर भी चरितार्थ होती है। जब हमारे अन्तर का व्यक्ति मनुष्य के विश्व-व्यक्तित्व से विद्रोह करता है तो हम क्षुद्र हो जाते हैं और कष्ट उठाते हैं। इस स्थिति में हमारी सफलताएं ही हमारी असफलताओं में बदल जाती हैं और अपनी वासनाओं की तृप्ति ही हमें प्यासा और लाचार बना देती है। हम अपने लिए विशेष पुरस्कार पाने की भूख जगा लेते हैं—ऐसे पुरस्कार जो हमारे अपने ही हों जिनका कोई भागीदार न हो। किन्तु हम भूल जाते हैं कि प्रत्येक विशेषता का सामान्यता से निरन्तर युद्ध चलता रहता है। इस निरन्तर युद्ध की अवस्था में मनुष्य सदा मोर्चेबन्दियों या खन्दकों के पीछे छिपा रहता है उसके घर वास्तविक घर नहीं रहते बल्कि अप्राकृतिक दीवारों से घिरे दुर्ग हो जाते हैं। तब भी हम शिकायत करते हैं कि हम सुखी क्यों नहीं मानो संसार की प्रत्येक वस्तु हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र रच रही हो। विश्व की आत्मा हमें सुख का ताज पहनाने के लिए उत्सुक है हमारी व्यक्तिबद्ध आत्मा उसे स्वीकार नहीं करती। वह सब जगह विद्रोह विषमता के बीज बोती है और समाज की साधारण सन्तुलित व्यवस्था में रुकावट डालकर दुःखों का कारण बनती है।

अपने जीवन से मनुष्य को सबसे बड़ी शिक्षा यह लेनी चाहिए कि संसार में दुःख है किन्तु उसे सुख में बदलना उसके हाथ है। एक दिन एक गरीब मजदूर स्त्री ने मुझसे यह शिकायत की कि उसका बड़ा लड़का कुछ देर के लिए एक धनी रिश्तेदार के घर भेजा जा रहा है। उसे यह अनुभव करके बड़ा मानसिक कष्ट हो रहा था कि उसे एक कष्ट से छुटकारा दिया जा रहा है। माँ का कष्ट उसका अपना स्वार्थ है उसे अपने

सम्पूर्ण विश्व की हानि होगी। विश्व का ही एक अंश न होने के कारण इसका मूल्य बहुत बढ़ गया है। इसके द्वारा ही हम विश्व को पाते हैं इस प्राप्ति में जो आनन्द है वह हम कभी न मिलता यदि यह अपने व्यक्तित्व को खोकर विश्व के ही अंश रूप में उसमें समाया होता।

इस व्यक्तित्व की अद्वितीयता को मनुष्य कितना मूल्यवान् समझता है इसका अनुमान इससे ही हो सकता है कि वह इस व्यक्तित्व की रक्षा के लिए कितने कष्ट उठाता है, कितने ही पाप भी करता है। सबसे अलग व्यक्तित्व बनाने के लिए वह मृत्यु को भी निमन्त्रण देता है यह व्यक्तित्व उस उस स्वर्ग से भी अधिक प्रिय हो जाता है जहां उसकी आत्मा प्रकृति की गोद में उसकी अहंकारजन्य चेष्टाओं से अनभिज्ञ सोई रहती है।

अपने व्यक्तित्व की अद्वितीयता स्थिर रखने के लिए हमें निरन्तर कष्ट उठाने पड़ते हैं, निरन्तर यत्न करना पड़ता है। ये कष्ट ही उसका मूल्य-निर्धारण करते हैं। इस मूल्य का एक पार्श्व वह बलिदान है जो इसके व्यय का अंकन करता है। दूसरा पार्श्व वह उपलब्धि है जो लाभ को अंकित करती है। व्यक्तित्व का अर्थ यदि केवल कष्ट और बलिदान ही होता तो इसका हमारे लिए कुछ भी मूल्य न होता और हम स्वेच्छा से बलिदान करने को भी तैयार न होते।

इसके हेतु किए गए बलिदान इसे और भी कीमती बना देते हैं। जिन्होंने इस व्यक्तित्व को उपलब्ध करके इसके वरदानों का उपयोग किया है और इसके उत्तरदायित्वों को बड़ी तत्परता से अपनाया है या बड़ी उत्सुकता से इसके लिए कष्ट उठाए हैं वे ही इसके मूल्य की साक्षी देते हैं। उनका स्वानुभव हमारे कथन को पुष्ट करता है।

उपर्युक्त प्रस्तावना के बाद मुझे अपने श्रोताओं द्वारा पूछे गए इस प्रश्न का उत्तर देना सरल हो जाएगा कि क्या 'अहं' को पृथ्वी को मिटाना ही भारतीय विचारकों का अन्तिम ध्येय नहीं रहा ?

इसका उत्तर देने से पूर्व मैं एक बात कहूंगा। वह यह कि मनुष्य अपने विचारों को प्रकट करने में कभी केवल शब्दाश्रयी नहीं होता। मात्र शब्द उसके भावों को व्यक्त ही नहीं करते। प्रायः यही होता है कि ये शब्द उसकी भाषा न बनकर केवल गूंगे की भावभंगियों के समान चेष्टामात्र

रह जाते हैं। उनसे उसके भावों को संकेतमात्र मिल सकता है विचारों की अभिव्यक्ति नहीं मिलती। ये विचार जितने ही महत्त्वपूर्ण होंगे उतनी ही यह सम्भावना होगी कि शब्दों द्वारा उन्हें प्रकट नहीं किया जा सकेगा। इस अभिव्यक्ति के लिए उन शब्दों को विचारक के जीवन की छाया में देखना पड़ेगा। जीवन की संगति में उनका सच्चा अर्थ जानना होगा। शब्दकोश की सहायता से अर्थज्ञान पानेवाले अन्वेषक अर्थ की बाह्य परिधि तक ही पहुंच पाएंगे अन्तर् का द्वार उन्हें बन्द ही मिलेगा। यही कारण है कि हमारे ऋषियों के सूत्ररूप से कहे गए वाक्यों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं हैं। हमने उनके शब्दों का अनुशीलन किया है उन्हें अपने जीवन में अनुभव करने का यत्न नहीं किया। ऐसे अभिशप्त शब्द ज्ञानियों का हाल उस मछियारे का-सा होता है जो मछली पकड़ना छोड़कर अपने जाल की उधेड़-बुन में ही लगा रहता है।

केवल भारतीय धर्मों या बौद्ध धर्म में ही इस आत्मत्याग का महत्त्व नहीं माना गया है ईसाई धर्म में भी इसके गौरव की चर्चा है। यहां तक कि जीवन से मुक्ति पाने की सफलता के लिए मृत्यु के चिह्न को लाक्षणिक मान लिया गया। यही निर्वाण है जो जीवन-दीप के बुझने का उपलक्षण है

भारतीय विचारक यह मानते हैं कि मनुष्य की सच्ची मुक्ति अविद्या से मुक्ति पाना है। मुक्ति का अर्थ किसी विद्यमान वस्तु का विनाश करना नहीं है बल्कि केवल अविद्यमान और सत्य मार्ग के अवरोधक कोहरे का निवारण करना है। जब अविद्या का यह अवरोध हट जाता है तभी पलकें ऊपर उठ जाती हैं—पलकों का हटना आंखों की क्षति नहीं कहा जा सकता।

यह हमारा अज्ञान ही है जो हमें यह बताता है कि हमारा 'अहं' अहं रूप में वास्तविक और पूर्ण है। इस भ्रमपूर्ण ज्ञान से ही हम इस 'अहंभाव' की पूर्ति को जीवन का चरम ध्येय मान बैठते हैं। तभी हम उस मनुष्य की तरह, जो रास्ते की मिट्टी को पकड़कर मंजिल तक पहुंचने की इच्छा करता है निराशा होती है। हमारे 'अहं' के पास ऐसे कोई साधन नहीं हैं जो हमें पकड़ सकें, उसका स्वभाव हो रास्ते पर चलना है। जब मनुष्य

बड़े यत्न से अपने भोग के सामान जुटाता है तो वह ऐसी आग सुलगा लेता है जो स्वयं को जलाकर राख बनाती है। उसके पास इस आग पर सेंकने को रोटी का आटा नहीं होता है। वह भी उस पशु की तरह जो स्वयं अपने अंग खाकर तृप्त होता है अपनी हत्या आप करता है और अपने हाथों अपनी चिता बनाकर स्वयं भस्म होता है।

जिस भाषा का पूरा ज्ञान न हो उसके शब्द बड़े क्रूर एवं अवरोधक हो जाते हैं। वे केवल रुकावट डालते हैं और कहते कुछ नहीं। शब्दों के इस जंजाल से छुटकारा पाने के लिए हमें पहले अविद्या से मुक्ति पानी होगी तभी हमारा मन शब्दों के अर्थ में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण कर सकेगा। शब्दों को नष्ट करने में हमें यह स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। जब असली ज्ञान होता है तो शब्द अपने स्थान पर स्थिर रहते हैं हमें अपनी जंजीर में जकड़ते नहीं और हमें न केवल स्वेच्छा से अपने रास्ते पर जाने देते हैं बल्कि अभ्युदय के मार्ग पर ले भी चलते हैं।

इस तरह हमने देखा कि अविद्या ही है जो अहं के ही परम ध्येय होने का मिथ्या भ्रम देकर उसे हमारा बन्धन बना देती है। यही अविद्या है जो हमें अहं में तिरोहित उस विचार को अनुभव करने से रोकती है जो अपनी परिधि में सीमित नहीं रह सकता। तभी विचारशील व्यक्ति कहते हैं अविद्या से मुक्त बनो आत्मा को पहचानो और अपने अहं की गिरफ्तारी से भी बचो।

जब हम अपनी प्रकृति में आते हैं तभी हमें अपनी स्वतन्त्रता मिलती है। कलाकार को जब कला का ध्येय मिल जाता है तभी उसे कलात्मक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। तभी वह नकल करने के कठोर परिश्रम से और प्रशंसा की प्रेरणाओं से मुक्ति पाकर कला का निर्माण करता है। इसी तरह धर्म का यह कार्य है कि वह हमारी प्रकृति को नष्ट न करे बल्कि उसके अभावों की पूर्तिमात्र करे।

अंग्रेजी के शब्द रिलीजन को संस्कृत में धर्म कहते हैं। किन्तु इस शब्द से धर्म का अर्थ व्यापक है। धर्म सब वस्तुओं की आंतरिक प्रकृति सार वस्तु और अनश्वर सत्यता है। धर्म ही हमारी आंतरिक दुनिया का अन्तिम ध्येय है। किसी भी दुष्कार्य के होने पर हम कह उठते हैं हमारे

धम को भ्रष्ट कर दिया इसका अर्थ यही है कि हमारी सच्ची प्रकृति के विरुद्ध कार्य हो गया।

यह धर्म कई बार इतना अस्पष्ट हो जाता है कि उसका स्वरूप दीखता ही नहीं और लोग यह विश्वास करने लगते हैं कि पाप करना मनुष्य की प्रकृति है। केवल कुछ ईश्वरेच्छाओं के आधार पर उसकी दया से ही मनुष्य को पाप से मुक्ति मिल सकती है—यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि बीज की प्रकृति अपने खोल म बन्द रहना है कोई चमत्कार ही उस वृक्ष बनने को अंकुरित कर सकता है। किन्तु क्या बीज का स्वरूप ही इस धारणा को मिथ्या नही बना देता ?

जब बीज का रासायनिक विश्लेषण करें तो उसमे कार्बन व प्रोटीन के तत्त्व मिलते हैं वृक्ष रूप में अंकुरित होने की प्रकृति का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उसका ज्ञान तभी होता है जब बीज अंकुर के रूप में फूटता है। यही बीज का धर्म है। यही इसका प्रयोजन है।

मनुष्य के प्रयोजन का प्रमाण भी, जब तक उसका धम महापुरुषों के महत्कार्यों में अंकुरित न हो जाए, नहीं मिलता। बहुसंख्यक मनुष्यों के निष्फल रहने का अर्थ भी यह नहीं है कि मनुष्य प्रकृति निर्बीज है। किन्तु यह मनुष्य का दायित्व है कि अपने आवरण को फोड़कर बाहर निकले और ज्ञान के प्रकाश व वायु म विकास पाकर सब ओर पल्लवित और पुष्पित हो।

बीज की स्वतन्त्रता का अर्थ है—उसे वृक्ष बनने के धर्म की पूर्ति मे स्वतन्त्रता। अपूर्ति ही कारावास है। जिस बलिदान से वस्तु अपने धम की पूर्ति करती है वह वैसा बलिदान नही है जो मृत्यु की ओर ले जाता है। यह तो बन्धनों के आवरण हटाकर स्वतन्त्रता प्राप्त करना है स्वधर्म के पालन की स्वतन्त्रता।

जब हमें मनुष्य की स्वाधीनता के सबसे ऊंचे आदर्श का ज्ञान हो जाता है तो हमें धर्म का उसकी प्रकृति का या उसके अस्तित्व के वास्तविक प्रयोजन का ही ज्ञान हो जाता है।

हम अपने 'अहं' को दो रूपों म देख सकते हैं। एक वह जो स्वयं को प्रदर्शित करता है दूसरा वह जो प्रकाश का प्रतिक्षेप करते हुए अपने

प्रयोजन का स्वयं उद्‌घाटन करता है। प्रदर्शन करने में वह महान् बनने का यत्न करता है अपने संचित स्वत्वों के अम्बार पर खड़ा होकर ऊंचा बनने की कोशिश करता है। इसके विपरीत, दूसरा स्वयं को प्रकाशित करने में स्वत्वों का त्याग करता है और कली से फूटकर खिले फूल की तरह विकास में ही पूर्णता प्राप्त करता है।

बुझा दीपक अपने तेल को सुरक्षित रखता है वह उसे अन्य सब चीजों से दूर अपनी दीवारों में एक कृपण की तरह संभालकर रखता है। किन्तु चिनगारी लगते ही वह अपना प्रयोजन समझ जाता है। वह एक क्षण में ही दूर-पास की सब चीजों से सम्पर्क बना लेता है और दीपशिखा को प्रज्वलित रखने के लिए बड़ी उदारता से अपने पात्र में संचित तेल का प्रदान करता है।

हमारी आत्मा का 'दीपक' भी कुछ ऐसा ही है। जब तक वह अपनी विभूतियों को समेटकर संचित करता रहता है तब तक वह बुझा रहता है। प्रदीप्त होते ही वह दीपक अपनी सीमाएं भूल जाता है अग्निशिखा को ऊंची रखता है अपनी सीमा की हर वस्तु को जगमगा देता है। इसी काम में इसके व्यक्तित्व का धर्म या या इसके चरित्र का उद्‌घाटन होता है। बुद्ध ने इसी आत्मोद्‌घाटन की स्वतन्त्रता का प्रचार किया था। उसने प्रकाश की बत्ती को अपने तेल का दान कर देने को कहा था। किन्तु इस प्रकार प्रयोजन रहित त्याग में अंधेरे त्याग का वास है। बुद्ध ऐसा कभी नहीं कह सकता। दीपक को प्रकाश के प्रयोजन से ही तेल का दान करना है और इस तरह जो ध्येय उसके संग्रह में सीमित था उसे स्वतन्त्र बनाना है। यह वास्तविक अभ्युत्थान है। बुद्ध का मार्ग केवल आत्मविसर्जन के अपनाने का नहीं है, बल्कि प्रेम द्वारा आत्मा को विकास बनाने का है। इसीमें बुद्ध के प्रवचनों का सच्चा अर्थ छिपा है।

जब हमें यह मालूम होता है कि बुद्ध द्वारा व्याख्यात निर्वाण का मार्ग प्रेम का ही मार्ग है तो हमें निश्चय हो जाता है कि निर्वाण प्रेम की ही पूर्णता में है। प्रेम स्वयं अपना ध्येय है। अन्य सब वस्तुओं में हेतु का संभव बना रहता है 'क्यों' का प्रश्न होता है। किन्तु प्रेम में 'क्यों' का स्थान नहीं प्रेम स्वयं अपना उत्तर है।

निःसन्देह स्वार्थ भी त्याग की अपेक्षा रखता है। किन्तु स्वार्थी व्यक्ति बाधित होकर ही त्याग करता है। प्रेम में त्याग स्वेच्छा से होता है। वहाँ त्याग में भी आनन्द है। हमारे स्वत्व हमारे शरीर का अंग बन जाते हैं। उन्हें अलग करते हुए दुःख होता है। किन्तु जब हम प्रेमाधीन होते हैं तो वह आसक्ति स्वयं शिथिल हो जाती है। पके हुए फलों का त्याग करते समय वृक्ष को या बच्चे को दूध देते हुए माँ को जिस तरह कष्ट नहीं होता उसी तरह हमें भी कष्ट नहीं होता। हम देने में ही आत्मिक तृप्ति मिलती है। मानो यही हमारी प्रकृति है।

इस तरह हम पूर्ण प्रेम में ही आत्मा की स्वाधीन प्रकृति को देखते हैं। प्रेम में जो किया जाता है वही पूर्ण स्वाधीनता से किया जाता है भले ही वह कितना ही कष्टप्रद प्रतीत होता हो। इसलिए प्रेम हित कार्य करना ही स्वतन्त्र कार्य करना है। गीता के निष्काम कर्म का भी यही अर्थ है।

गीता का कथन है कि कर्म करना आवश्यक है क्योंकि कर्म द्वारा ही हम अपनी प्रकृति का प्रदर्शन करते हैं। किन्तु यह प्रदर्शन अपूर्ण है यदि वह कर्म स्वतन्त्र कर्म नहीं है। भय या वासना-प्रेरित कर्म स्वतन्त्र कर्म नहीं कहलाते। ऐसे कर्मों में हमारी प्रकृति प्रकट नहीं होती। माँ अपने बच्चों के हित काम करने में अपनी प्रकृति का प्रदर्शन करती है। यही काम स्वतन्त्र भावना से होता है। उसमें न वासना है न भय।

ईश्वर अपनी रचना में प्रकट होता है। उपनिषदों का कथन है कि ज्ञान शक्ति और कर्म उसके स्वाभाविक गुण हैं[1] किसी बाह्य प्रेरणा से उनका उद्भव नहीं होता। अतः उसके कर्म में ही स्वतन्त्रता है और अपनी रचना में ही वह स्वयं को प्रकट करता है। इस सत्य को उपनिषदों के अन्य शब्दों में कहा है: आनन्द से ही यह जगत् बना है आनन्द ही इन्हें जीवित रखता है आनन्द की ओर ही इनकी गति है और आनन्द में ही इनका अन्तिम विलय है।[2] *अभिप्राय यह कि ईश्वर की रचना का आधार केवल* आनन्द है उसका प्रेम ही इसकी रचना करता है इसलिए यह रचना

---

१ स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

२ आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।

उसीके स्वरूप की छाया है।

अपनी कलात्मक कल्पना में आनन्द लेनेवाला कलाकार उस कल्पना को रूप दे देता है और इसे अपने से वियुक्त रखकर और भी अधिक पा लेता है। इस वियुक्ति का आधार प्रेम होता है घृणा नहीं। घृणा में केवल वियोग का तत्त्व ही तत्त्व है प्रेम में वियोग और मिलन दोनों रहते हैं। प्रेम का वियोग भी मिलन के अर्थ होता है—सचाई मिलन में ही होती है।

इसी तरह हमें जानना चाहिए कि हमारे अहं का अर्थ ईश्वर से वियुक्त होने में नहीं बल्कि मिलन में है। यह मिलन चित्र के परदे की शून्यता की ओर नहीं बल्कि परदे के उस पार्श्व से होना चाहिए जिधर चित्रकार चित्र बनाता है।

इसीलिए हमारी प्रभु से वियुक्त अवस्था को दर्शनकारों ने माया केवल प्रवंचना कहा है। कारण कि इसमें आन्तरिक वास्तविकता नहीं है। यह अवस्था विनाशक है यह इस वियोग को बहुत विश्वासकाय बना देती है और विश्व के अस्तित्व पर काली छाया-सी छा जाती है। बाहर से यह भीषण विस्फोटक, विद्रोही और विध्वंसप्रिय मालूम होती है। इसमें गर्व और आधिपत्य की भावना है। यह अपनी क्षणिक तृप्ति के लिए दुनिया को लूटती है यह सौन्दर्य भरे दिव्य पक्षी के पंखों को क्रूरता से नोचकर अपनी कुरूपता को क्षण भर के लिए छुपाने का उद्योग करती है किन्तु यह सब माया है अविद्या का आवरण है एक कोहरा-सा है, धुआं-सा है जिसने प्रेम की ज्योति को ढक रखा है।

कल्पना कीजिए एक मूर्ख वैश्य को यह प्रतीत हो गया कि कागज के नोटों में ही यह जादू है जो मनचाही चीजें दिखाता है। वह इन नोटों को जमा करता है छिपाता है और उनपर नाचता है। किन्तु अन्त में उन कागजी नोटों का प्रयोग न जानने के कारण यह नतीजा निकलता है कि ये नोट बेकार हैं आग लगा देने लायक हैं। वह उन्हें आग लगा देता है। समझदार आदमी इन कागजी नोटों का असली अर्थ जानता है। वह जानता है कि ये कागज तब तक मायामात्र है जब तक इन्हें बैंक में देकर धन न लिया जाए। इसी तरह यह हमारी अविद्या है जो पहले हमारे प्रभु से वियुक्त रूप को ही मूल्यवान् समझ लेती है और बाद में उसे रद्दी कागज

की तरह नष्ट करने को तैयार हो जाती है। अविद्या का आवरण दूर होने पर ही हमारा यह रूप अपने स्वरूप में आता है (इस स्वरूप में भी ब्रह्म का स्वरूप है।) क्योंकि वह अपने को अनेक अमृत रूपों में प्रकट करता है।[1] ये रूप उससे भिन्न हैं। उन रूपों का भी वही मूल्य है जो उन्हें प्रभु ने स्वयं दिया है।

जब केवल कोई परवशता ही मनुष्य से काम करवाती है तो वह किसी दुर्घटना की तरह अस्थायी और थोड़े काम के कार्यवाहिक प्रबन्ध की तरह क्षणिक प्रभाव वाली होती है। मजबूरी की दशा बदलने के साथ ही इसे मृत वस्तुओं की तरह छोड़ दिया जाता है। किन्तु जब काम स्वान्त सुखाय हो तो इसमें अमरता आ जाती है। मनुष्य का अन्तर् निवासी इसपर अमरता की छाप लगा देता है।

प्रभु ने अपने आनन्द के लिए हमारी रचना की। अतः हमारी आत्मा में उसके आनन्द का ही रूप प्रतिबिम्बित हुआ है। उसपर अमरता की छाप है प्रभु का आनन्द भी अमृत है आनन्दरूपममृतं यद्विभाति'। यही कारण है कि मृत्यु को निश्चित रूप से सामने जानकर भी हम मृत्युभय से मुक्त रहते हैं। इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच एक समान वृत्ति रखते हुए हम इसी सत्य पर पहुंचते हैं कि इन दोनों—मृत्यु और जीवन—में भी एक समता है। आत्मा के सीमित जीवन को असीम की प्राप्ति के लिए जिस राह से जाना पड़ता है वह मृत्यु के द्वार में से गुजरता है। मृत्यु एकरस है इसमें जीवन नहीं है! किन्तु जीवन में द्वित्व है छाया और सत्य दोनों रूपों में यह रहता है। मृत्यु ही छाया है यही वह माया है जो जीवन की अटूट साथी है। हमारी आत्मा का विकास और परिवर्तन की अनेक सतप्रवाही लहरों में से गुजरकर जाना पड़ता है इसीको प्रवहमान जीवन या प्रवहमान मृत्यु कह सकते हैं। इस प्रवाह को कोई भी नाम दे सकते हैं। जब हम अपनी आत्मा में विकास की प्रेरणा नहीं पाते प्रवाह की गति मन्द कर देते हैं तब हमारा प्रभु हमें मृत्यु का संकेत देता है हम मर जाते हैं उसी तरह जैसे दिन के प्रकाश में दीपक बुझा दिया जाता है।

हमारे व्यक्तित्व में दो प्रकार की शक्तियां सदा काम करती हैं हमें

[1] आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।

उसम समता लाने का यत्न करते रहना चाहिए। अपनी भौतिक प्रकृति से सम्बद्ध कामनाओं का हम सदा अनुभव करते हैं। हम अपने भोजन में तृप्ति चाहते हैं और शारीरिक भोगों के पीछे भागते हैं। भोग की यह कामना प्रायः हमारी पाचक शक्ति के प्रतिकूल दौड़ती है।

दूसरे प्रकार की कामनाएं वे हैं जो हमारे समस्त देह की सामूहिक हैं जिनसे हम प्रायः अनभिज्ञ-से रहते हैं। यह कामना स्वास्थ्य की है। यह भी सदा जागरूक रहकर नये सुधार, नई व्यवस्था तथा दुर्घटनाओं के समय नये उपचारों का काम करती रहती है। यह कामना बड़ी कुशलता से शरीर में सन्तुलन को व्यवस्थित रखती है। शरीर की तात्कालिक भोगेच्छाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह दूर की सोचती है। यह जीवन को उसके भूतकाल और भविष्य से सम्बद्ध रखती है और शरीर के भिन्न अवयवों की समता भी स्थिर रखती है। बुद्धिमान आदमी इसे पहचानते हैं और अन्य शारीरिक इच्छाओं को इसके अनुकूल बनाने का यत्न करते रहते हैं।

हमारा एक व्यापक शरीर भी है—सामाजिक शरीर। समाज भी एक शरीर के समान है जिसके अवयव रूप से भी हम व्यक्तिगत कामनाएं रखते हैं। हम अपने सुख की भी चाह करते हैं। हम सबसे कम मूल्य में सबसे अधिक प्राप्ति की इच्छा भी रखते हैं। इससे परस्पर संघर्ष होता है। उपद्रव होते हैं। किन्तु हमारे भीतर एक और कामना है जो हमारे सामाजिक व्यक्तित्व की गहराई में निवास करती है, यह है समाज के कल्याण की कामना। यह व्यक्ति और वर्तमान की क्षणिक भोग कामना की सीमा के बाहर फैलती है। यही कामना हमें असीम की ओर ले जाती है।

जो मनुष्य अपनी भोगेच्छा को सामाजिक कल्याण के अनुकूल बनाने का यत्न करेगा वही अपनी विराट आत्मा का साक्षात् कर सकेगा।

हमारी भौतिक प्रवृत्तियों का लक्ष्य स्वास्थ्य तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का कल्याण और हमारी आत्मा का लक्ष्य प्रेम है। यह अन्तिम ही वह लक्ष्य है जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है—स्वार्थ से निर्वाण। यह प्रेम की साधना है। प्रेम प्रकाश की ओर ले जाता है। प्रेम का प्रकाश ही हमारे अन्तर् में असीम की आनन्दमय ज्योति का दीपक जलाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व में से जो स्वतन्त्र है गुज़रकर ही आत्मा तक पहुँचना है। यह मार्ग किसी बाह्य शक्ति की प्रेरणा से नहीं बल्कि व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से स्वेच्छया ही सम्भव है। यह भी सम्भावना है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा या आन्तरिक प्रेरणा उसे अपने अन्तिम लक्ष्य से विपरीत दिशा की ओर ले चले। किन्तु यह गति देर तक नहीं रहेगी। वह अनन्त दूरी तक उल्टे रास्ते पर नहीं चल सकेगी। वह रास्ता ही अनन्त नहीं है उसका शीघ्र ही अन्त हो जाएगा। हमारी इच्छा की स्वतन्त्रता का उद्देश्य उसे कल्याण व प्रेम के मार्ग पर ले जाना है। यह मार्ग असीम की ओर ले जाता है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता इसी मार्ग में अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकती है। असीम की प्राप्ति के मार्ग में ही उसमें का यह स्वतन्त्र है। वह स्वतन्त्रता के मूलभूत आधार का उल्लंघन करके स्वतन्त्र नहीं रह सकती। वह स्वयं आत्मघात करके जीवित नहीं रह सकती। हम यह दावा नहीं कर सकते कि हमें अबाध स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, स्वयं को जंजीरों में बाँधने की। क्योंकि ये जंजीरें स्वतन्त्रता का अन्त कर देती हैं। इस तरह की माँग ही निराधार है।

हमारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में भी द्वित्व का माया और सत्य दोनों का भाग है। व्यक्तिगत इच्छा माया है और प्रेम सत्य है। जब हम अपनी इच्छा को प्रेम रहित कर देते हैं तो दुःख पैदा होता है। हर वस्तु माया और सत्य के द्वित्व से पूर्ण है। शब्द माया है जब वह केवल ध्वनि है वही सत्य है जब वह विचार से पूर्ण होता है। हमारा व्यक्तित्व माया है जब वह केवल अस्तित्व है वही सत्य है जब उसमें विराट आत्मा की अमरता प्रतिबिम्बित होती है। ईसा का भी यही अभिप्राय था जब उसने कहा था कि अब्राहम से पूर्व भी अहं था। यह अनादि 'अहं' ही है जो मेरे भीतर में अहं में बोलता है। यह व्यक्तिगत 'अहं' जब असीम के विराट् 'अहं' में समभाव अनुभव कर लेता है तो पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। तभी इसे माया से मुक्ति मिलती है उस माया से जो अविद्या से पैदा हुई है। माया से मुक्ति पाकर ही वह 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' रूप का सत्य में पूर्ण विश्रान्ति कल्याण में कार्यशीलता और प्रेम में पूर्ण मिलन की स्थिति को प्राप्त करता है।

सदा के लिए छिप जाता। तब प्रत्येक क्षण समय पर अपनी थकान का भार छोड़ जाता और इस अनन्त मृत्तिकामय राज्य के सिंहासन पर केवल निराशा और थकान का ही आधिपत्य होता।

किन्तु, अब प्रत्येक दिन नये खिले फूलों के साथ नया जन्म लेकर आशा और आश्वासन के संदेशों को पुनर्जीवित कर जाता है। वह नई भावनाओं के साथ कहता जाता है कि मृत्यु क्षणिक है अशान्ति की लहरें केवल सतह पर हैं शान्ति के समुद्र की कोई थाह नहीं। रात के परदे हटते ही, सत्य अपनी पोशाक पर धूलि का एक भी कण लिए बिना और अपने चेहरे पर बुढ़ापे की एक भी रेखा के बिना प्रकट होता है।

और, हम देखते हैं कि उसका जो रूप सदियों पूर्व था वही अब भी है। सृष्टि के संगीत का प्रत्येक स्वर नये रूप में उसके मुख से निकलता है। यह विश्व केवल ऐसी ध्वनि नहीं है जो आकाश के एक छोर से दूसरे छोर तक निराधार घूम रही है और जो उस पुराने गीत का अवशेष है जिसे सृष्टि के धुंधले-से आरम्भ में गाया गया था। यह वह ध्वनि है जो प्रति क्षण विधाता के हृदय से निकल रही है उसकी *साँसों का साँस बनी* हुई है।

इसी कारण यह उस कल्पना की तरह जो कविता में सम्पूर्ण हो रही होती है आकाश में छा जाता है और कभी अपने संग्रह-भार से बोझल नहीं होता। इसीलिए इसके इतने विविध रूप हैं। जैसे प्रारम्भ में थे वैसे ही अब हैं। प्रारम्भ का भी कोई अन्त नहीं। संसार सदा पुराना और सदा नया रहता है।

यह हमारा कर्तव्य है कि हम यह जानें कि वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में नया जन्म लेता है। वह अपने उन सब आच्छादनों को जो इस मृत्यु-भार से भारी और भद्दा बनाते हैं तोड़कर मिट्टी में मिला देता है।

जीवन एक अमर प्रवासी है उसे उस आयु से नफरत है जो इसकी गति में बाधक हो, या दीपक की छाया की तरह जीवन का पीछा करती हो।

हमारा जीवन नदी की लहरों की तरह अपने तट से छूता है इस

लिए नहीं कि वह अपनी सीमाओं का बन्धन अनुभव करे, बल्कि इसलिए कि वह प्रतिक्षण यह अनुभूति लेता रहे कि उसका अनन्त भाग समुद्र की ओर खुला है। जीवन ऐसी कविता है जो छन्दों के कठोर अनुशासन म चुप नहीं होती बल्कि इससे अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता और समता को और भी अधिक प्रकट करती है।

हमारे व्यक्तित्व की सीमान्त दीवारें हम अपनी सीमा की ओर भी धकेलती हैं और इसी तरह हमें असीम की ओर भी ले जाती हैं। केवल जब हम इन सीमाओं को असीम बनाने की कोशिश करते है तभी हम परस्पर विरोधी भावनाओं म संघर्ष पाते हैं और तभी हमें दुःख उठाना पड़ता है।

मानवीय इतिहास में यही परिस्थिति महान् क्रान्ति को जन्म देती है। जब कोई पुर्जा सम्पूर्ण को छोड़कर अपना अलग रास्ता ढूंढ़ता है तो सब वस्तुओं का सम्मिलित प्रभाव उसे झकझोर देता है और उसे मिट्टी म मिला देता है। जब कभी कोई एक व्यक्ति संसार की शक्तियों की सदा बहती धारा को रोकने खड़ा होता है और उन्हें केवल अपने उपयोग म लाने के मनोरथ बांधता है तो परिणाम सर्वनाश ही होता है। कोई भी कितना ही शक्तिशाली हो वह असीम शक्ति से विद्रोह करके देर तक शक्तिशाली नहीं रह सकता।

कहा गया है कि कई बार अधर्म करनेवाला भी फलता-फूलता है मनोरथ पूर्ण करता है अपने शत्रुओं को जीतता है किन्तु अन्त मे उसकी जड़ें खोखली हो जाती हैं उसका विनाश हो जाता है।[1] हमारी जड़ें विश्व की गहराई में जानी चाहिए, यही हम महान् व्यक्तित्व की कामना करते है।

हमारे अहं का यह ध्येय है कि हम विश्वात्मा स मिलन की साधना करें। हमें प्रेम से सिर नवाकर वहां खड़ा होना चाहिए जहां छोटे-बड़े सब मिलते हैं। हमें अपनी हानि में से ही लाभ उठाना है और अपने बलिदान म ही उत्थान पाना है। हमारा व्यक्तित्व और हमारा अहंकार हमारे लिए

१ अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अभिशाप है यदि हम प्रेम के अधीन होकर भी उसका अर्पण न कर सकें। हमें मानना चाहिए कि हममें केवल असीम का प्रस्फुटन ही ऐसा है जो सदा सुन्दर और नया रहता है जो हमारे व्यक्तित्व को सार्थक बनाता है।

# प्रेम-साधना से प्रभु-प्राप्ति

जब हम इस गहन समस्या पर विचार करते हैं कि जीवात्मा और आत्मा किस तरह साथ-साथ रहते हैं। इस सहवास के मूल में एक अलौकिक पहेली काम कर रही है। वह यह कि हम इस समस्यारूपी वृत्त के चारों ओर परिक्रमा करने में असमर्थ हैं, कारण कि हम स्वयं इस वृत्त के भीतर रहते हैं। हम कभी भी इसके बाहर रहकर इसका माप-तौल नहीं कर सकते।

यह समस्या केवल तर्क के लिए है। वस्तुतः यह हमारे जीवन में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। तर्क की भाषा में यह कहना ठीक होगा कि दो बिन्दुओं के मध्यस्थान की दूरी को चाहे वह कितनी ही छोटी हो असीमित कहना चाहिए। क्योंकि इसे भी असीमित रूप से विभक्त किया जा सकता है। किन्तु हम इस असीम की सीमा को हर कदम पर लांघते हैं और प्रतिक्षण अनादि अनन्त से भेंट करते हैं। इसीलिए हमारे दर्शनकारों ने यह मत प्रकट किया है कि सीमित वस्तु है ही नहीं यह केवल माया है, भ्रान्ति है। वास्तविकता असीम में है यह केवल माया है अवास्तविक है जो देखने में सीमित मालूम होती है। किन्तु माया तो एक नाम ही है इससे किसी वस्तु का स्वरूप ज्ञान नहीं हो सकता। और यह समस्या भी समस्या ही रह जाती है कि आत्मा और परमात्मा—सीमित और असीम—किस तरह साथ-साथ रहते हैं।

संसार में द्वन्द्व बहुत हैं अर्थात् दो विरोधी वस्तुओं का नाम एक-साथ आता है। राग विराग विधान निषेध अनासक्ति आसक्ति इन परस्पर विरोधी शब्दों का एकसाथ प्रयोग होता है। किन्तु ये भी

नाम हैं इनसे भी वस्तुस्थिति की व्याख्या नहीं होती। इनसे यही प्रकट होता है कि संसार मात्र दो विरोधी स्वभाव की शक्तियों वस्तुओं या चेष्टाओं का समझौता ही है। ये शक्तियां निर्माता के दायें-बायें हाथ की तरह पूरे स्वभाव से अपना काम करती हैं, यद्यपि दोनों विरुद्ध दिशाओं में काम कर रही हैं।

हमारी दोनों आंखों ने भी एक समता बनाए रखने का प्रण किया हुआ है, तभी दोनों मिलकर काम करती हैं। इसी तरह भौतिक संसार की शक्तियों में भी एक अटूट निरन्तरता का सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध गर्मी-सर्दी प्रकाश-अन्धकार विश्राम-गति आदि में है। इसी कारण ये परस्पर विरोधी तत्त्व प्रतिकूलता के स्थान पर अनुकूलता ही लाते हैं। यदि सृष्टि की रचना में केवल अव्यवस्था और संघर्ष होते तो हमें यही मानना पड़ता कि दो विरोधी स्वभाव के ये तत्त्व एक-दूसरे को नीचा दिखाने में व्यस्त हैं। किन्तु स्मरण रहे विश्व में अभी अराजकता का राज्य नहीं हुआ।

यहां कोई ऐसी शक्ति नहीं जो पागल बन जाए या अनिश्चित काल तक पथभ्रष्ट रहे अथवा उद्दण्ड होकर अपने आस-पास की व्यवस्था को भंग करे, उपद्रव मचाए। प्रत्येक शक्ति घूम-फिरकर अपने केन्द्रस्थान पर वापस आ जाती है। लहरें उठती हैं हर लहर मानो दूसरों से होड़ करती हुई आसमान को छूने ऊंचे चढ़ जाती है किन्तु एक सीमा तक ही अन्त में वह समुद्र के अथाह पानी में विराम पाती है। उन्हें समुद्र से उठकर समुद्र में ही वापस आना है। यह चढ़ाव-उतार इतना ताल में बंधा होता है कि उसमें सौन्दर्य भर जाता है।

वस्तुत ये परिवर्तन कम्पन उभार और उतार किसी रुग्ण शरीर की अस्वाभाविक ऐंठन के समान नहीं हैं इनमें अलौकिक तालबद्ध तारतम्यता है। नृत्य के पद-संचालन में जो तालबद्धता होती है वही इनमें है। यह तालबद्धता विक्षिप्त चेष्टाओं में नहीं आ सकती। इनके मूल में किसी आधारभूत एकता को अवश्य मानना पड़ेगा।

एकता का यह सिद्धान्त ही इस रहस्यमयी प्रकृति का सबसे बड़ा रहस्य है। विश्व का रहस्य भी हमारे मन में एक संशय पैदा करता है किन्तु

इसका समाधान मौलिक एकता में ही मिलता है। जब इन दोनों में हम अनिवार्य समता पाते हैं तब हम जानते हैं कि सचाई उनके द्वित्व में दुई में नहीं एकता में है। और तभी हम यह कह उठते हैं जो स्वयं एक पहेली है कि —एक को हम बहुधा रूपों में देखते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हमारे सब आनन्दमय कौतूहलों के मूल रहस्य—विविधता में एकता—को जानकर हर्षित नहीं होते। बात यह है कि वह इस नियम को अपनी खोज की अन्तिम मंजिल मान लेते हैं और यह अनुभव करके कि इस मंजिल पर पहुँचकर भी उन्हें विशेष आत्मिक परितोष नहीं मिला वे निराश हो जाते हैं। यह निराशा उनकी असीमता से आह्लादित होनेवाली चेतना को मृतप्राय कर देती है।

सुन्दर से सुन्दर कविता को भी जब हम चीड़-फाड़ कर देते हैं तो वह कुछ असंगत शब्दों का समूह ही बचता है। जो उसका रस पहचानते हैं वही इन शब्दों की माला को पिरोनेवाले सूत्र का महत्त्व जानते हैं। यह सूत्र एक ऐसी अचूक व्यवस्था है जो असंगत नहीं हो सकती। उसमें विचारों का विकास संगीत की गति उसे रूप देने की व्यवस्था बड़े सुन्दर रूप से होती है।

किन्तु व्यवस्था की सीमा है। भाषा का अभ्यास करते हुए हम शब्दों के अभ्यास से शब्दों की व्यवस्था ही जान सकते हैं। यह भी महत्त्वपूर्ण ज्ञान है। किन्तु यदि हम यहीं ठहर जाएं और केवल भाषा के स्वरूप पर आश्चर्य करते रहें तो हम भाषा के लक्ष्य—साहित्य—पर नहीं पहुंच सकते क्योंकि शब्दों की व्यवस्था या व्याकरण ही साहित्य नहीं है।

साहित्य व्याकरण के सिद्धान्तों को पुष्ट अवश्य करता है किन्तु वह उससे स्वतन्त्र आनन्दमय रचना है। कविता का सौंदय उसके छन्दों में भी है किन्तु वहीं तक नहीं है। वह उससे बाहर रस में है। व्यवस्था का काम पखों का होना चाहिए जो स्वयं भार बनने क स्थान पर उड़ने में सहायक हों। कविता का स्वरूप व्यवस्था में है किन्तु उसका रस उसके सौन्दर्य में है। व्यवस्था ही स्वतन्त्रता की प्रथम सीढ़ी है और सौन्दय अन्तिम सीढ़ी। सौन्दर्य में सीमित और सीमा के बाहर की वस्तुओं की समता हो जाती है। सौन्दय में व्यवस्था और स्वतन्त्रता एक ही क्षेत्र में केन्द्रीभूत होते हैं।

संसाररूपी कविता में भी इसके स्वर-प्रवाह के नियमों का आविष्कार इसका विस्तार, संकोच विराम आदि स्थितियों का माप-तोल और इसके आकार प्रकार तथा चरित्र का आंतरिक ज्ञान हमारे मन की बहुत बड़ी प्राप्ति है किन्तु हम इस प्राप्ति पर ही संतोष नहीं कर सकते। यह तो एक रेलवे स्टेशन है। स्टेशन के प्लेटफार्म को हम घर का नाम नहीं दे सकते। अन्तिम सत्य वही जान पाता है जो यह जानता है कि संसार का उद्भव आनन्द से ही होता है।

इससे मुझे यह विचार आया कि मनुष्य-हृदय का प्रकृति से कितना रहस्यपूर्ण सम्बन्ध है। कार्य के बाहरी संसार में प्रकृति का एक ही स्वरूप है कि भिन्न हृदयों में या भिन्न क्षेत्रों में इसका रूप ही बदल जाता है।

फूल कितना सुन्दर लगता है, किन्तु उसे भी एक निर्दिष्ट कार्य करना है उसके रंग-रूप उसी कार्य की साधना में सहायक हैं। उसे फल की सृष्टि करनी है नहीं तो फूल का वंश नष्ट हो जाएगा और धरती फल-फूल रहित बंजर भूमि बन जाएगी। फूल का रंग और फूल की महक इसलिए है कि मधुमक्खी उसमें बीज का वपन करे। जैसे ही फल में बीज रखा जाता है और फल का समय आता है फूल की पंखड़ियां मुरझाकर मुड़ जाती हैं और सुगन्ध उस छोड़कर चली जाती है। फूल को शृंगार करने का समय नहीं रहता वह इससे अधिक उपयोगी कार्य में लग जाता है। प्रकृति में प्राय उपयोगिता के आधार पर ही सब काम चल रहे हैं। कली फूल बनती है फूल फल बनता है फल से बीज बनता है बीज से फिर नया पौधा बनता है इस तरह एक शृङ्खला-सी बनी हुई है।

किन्तु जब फूल मनुष्य के हृदय का मोह लेता है तो उसका उपयोगिता मय जीवन विलासी जीवन में बदल जाता है। वही फूल जो असीम कार्य व्यग्रता की मूर्ति था अब सौंदर्य और शांति की मूर्ति बन जाता है।

विज्ञान का दृष्टिकोण दूसरा है। वह कहता है कि फूल का उद्देश्य उससे भिन्न कुछ नहीं जो उसका बाह्य रूप से प्रकट होता है। उसके साथ सौंदर्य और शांति की संगति केवल मनुष्य हृदय की अपनी ही विलासी कल्पनाओं की उपज है।

किन्तु हमारा दिल गवाही देता है कि हम भूल नहीं कर रहे। प्रकृति

के क्षेत्र में फूल अपनी उपयोगिता का प्रमाण-पत्र लेकर ही प्रविष्ट हुआ है किन्तु मनुष्य-हृदय के मन्दिर में इसका प्रवेश दूसरे परिचय-पत्र द्वारा होता है। उस परिचय-पत्र में इसके सौंदर्य का ही गुण-गान है। एक जगह यह दास बनकर आता है दूसरी जगह स्वतन्त्र रूप से प्रवेश करता है। हम एक को सत्य और दूसरे को मिथ्या नहीं मान सकते। इसके दोनों ही रूप सत्य हैं। फूल को वंश-वृद्धि के लिए फल बनना है—यह इसका बाह्य सत्य है किन्तु आन्तरिक सत्य यह है कि आनन्द से ही सबकी उत्पत्ति होती है।[1]

फूल का कार्य केवल प्रकृति की आवश्यकता पूरी करना नहीं है मनुष्य के मन की आवश्यकता पूरी करना भी उसका ही कार्य है। प्रकृति की प्रयोग-शाला में वह नौकर बनकर काम करता है जिसे निश्चित समय पर निश्चित काम करना ही पड़ेगा किन्तु मनुष्य के हृदय में वह किसी महान् देवता का दूत बनकर आता है जिस तरह रावण की स्वर्ण-नगरी में सीता के लिए हनुमान द्वारा लाई अंगूठी दूत बनकर आई थी। उसे देखते ही सीता को विश्वास हो गया था कि उसके हृदय-देव ने उसे भुलाया नहीं है और शीघ्र ही वे उसकी सहायता के लिए आएंगे।

फूल भी हमारे महान् प्रेमी का यही संदेश लेकर आता है। यह संसारी धन-वैभव से भरी दुनिया ही रावण की स्वर्ण-नगरी है। हम इसमें नजरबन्द कैदी हैं। इसका चमकीला रूप और इसके भोग विलास हमें उसकी बहू बनकर रहने को ललचाते हैं। इसी बीच फूल हमारे प्रभु का संदेश लेकर आता है और हमारे कानों में धीरे से कहता है 'मैं आ गया हूं। उसने भेजा है। मैं उस सौन्दर्य-देवता का दूत हूं जिसकी आत्मा प्रेम से पूर्ण है। वह तुम्हें भूला नहीं है जल्दी ही तुम्हें लेने आएगा। स्वर्ण-नगरी के ये मायाजाल तुम्हें देर तक अपने बन्धनों में नहीं रख सकेंगे।

यदि हम जाग्रत् होते हैं तो उससे प्रश्न करते हैं 'हमें यह कैसे विश्वास हो कि तुम हमारे प्रेमी के ही दूत हो।' वह उत्तर देता है 'देखो मेरे पास उसकी यह निशानी है। इसका रंग-रूप कितना सुन्दर है।

सचमुच यह सुन्दर होता है। यही तो हमारे प्रेम की निशानी है। तब

---

[1] आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

हमारे सब भ्रम छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। केवल उस मधुर स्मृति-चिह्न का स्पर्श हमें दिव्य प्रेम से विभोर कर देता है। हमें साफ अनुभव होने लगता है कि इस स्वर्ण-नगरी में हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं हम दूसरी ही दुनिया की आत्माएं हैं, हमारा अपना घर इससे दूर, बहुत दूर है।

फूल में मधुमक्खी के लिए जो वस्तु केवल रंग और गन्ध है वही मनुष्य-हृदय के लिए सौन्दर्य और आनन्द बन जाता है। फूल हमारे पास प्रभु द्वारा विविध रंगों में लिखे प्रेम-पत्र के साथ आता है।

बाहर से हमारी प्रकृति कितनी ही कार्य-व्यग्र दिखलाई दे उसके हृदय में भी एक ऐसा एकान्त है जहाँ विश्रान्ति का राज्य है जहां सब काम उपयोगिता की दृष्टि से नहीं होते, स्वतन्त्र इच्छा से होते हैं। उस एकान्त स्थल पर प्रयोगशाला की आग उत्सव की दीप शिखा में बदल जाती है और मशीनों का घोर संगीत बन जाता है। प्रकृति के बाह्य रूप में कारण-कार्य की जंजीरें बहुत कर्कश आवाज से झनझनाती हैं किन्तु मनुष्य-हृदय में वही झन-झन सितार की स्वर्णमय तारों से निकलती हुई झंकार बन जाती है।

सचमुच यह आश्चर्य का विषय है कि प्रकृति एकसाथ इन रूपों में किस प्रकार प्रकट होती है एक बन्धनमय दूसरा स्वतन्त्र। प्रकृति के एक ही कार्य में दो तरह की झलक—एक उपयोगिता दूसरा आनन्द—कैसे दिखलाई देती है। एक रूप में वह परिश्रम की साकार मूर्ति दीखती है, दूसरे में विश्रान्ति की। बाहर से वह अनेक जंजीरों में बंधी मालूम होती है किन्तु उसका हृदय मुक्त सौन्दर्यपूर्ण होता है।

हमारे ऋषि कहते हैं आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं विकास पाते हैं और अन्त में आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऋषियों को प्रकृति के नियमों का ज्ञान नहीं था अथवा वे काल्पनिक विचारों के विलास में इतना डूब गए थे कि वस्तुस्थिति का उन्हें ज्ञान ही नहीं रहा था। प्राकृतिक नियमों की कठोरता का उन्हें पूरा आभास था इसीलिए उन्होंने कहा था 'अग्नि इन नियमों में बंधी होने के कारण ही जलती है सूर्य इन नियमों के भय से ही चमकता

है वायु, अग्नि और मृत्यु भी इन्हीके अनुशासन में अपने कर्तव्य-कर्म करते हैं। इस कठोर अनुशासन की विद्यमानता का ऋषियों को पूर्ण ज्ञान था। फिर भी उनका कवि-हृदय आनन्द विभोर होकर यह गीत गाता था—आनन्द से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं विकास पाते हैं और आनन्द में ही लीन हो जाते हैं।

आनन्द रूप में ही यह अमर शक्ति अपने को प्रकट करती है।[1] उसका पूर्ण आनन्द ही सृष्टि के रूप में सामने आता है। आनन्द की पूर्णता का यह स्वभाव ही है कि वह इस रूप में जो नियम-व्यवस्था है अपनी अनुभूति करे। रूपहीन आनन्द रूप में आने के लिए रचना करता है। गायक का आनन्द संगीत के रूप में प्रकट होता है कवि का आनन्द कविता के रूप में प्रकाशित होता है। मनुष्य का असीम आनन्द भी कई रूपों में प्रकट होकर मनुष्य को निर्माता की पदवी दे देता है।

यह आनन्द—जिसका दूसरा नाम प्रेम भी है—स्वभाव से ही द्विरूपमय है। प्रत्येक कलाकार द्विरूपमय होता है। गायक गीत गाते हुए श्रोता भी होता है। श्रोताओं में भी उसका यह अंश विस्तीर्ण होता है। प्रेमी अपनी प्रिय वस्तु में अपने ही रूप की छाया देखता है। प्रिय वस्तु से वियोग की कल्पना भी उसीके आनन्द की कृति है—जो वियोग के बाद मिलने की इच्छा से बनाई जाती है।

अमृतम् —अमृत आनन्द भी द्विरूप है। हमारी आत्मा स्वयं को दो रूपों में बांट लेती है। वही प्रेमी है। वही प्रिय। दोनों बिछुड़ जाते हैं। यह वियोग ही यदि वास्तविक हो तो संसार में केवल दुःख और पाप का ही राज्य रहे। दुःख से आनन्द और पाप से पवित्रता का जन्म नहीं हो सकता। सब इस विभिन्नता को एकता के रूप में लाने के लिए हमारे पास कोई माध्यम ही न रहे भाषा भाव हृदयों का प्रविष्ट होना या आत्मिक सम-भाव किसीका कुछ अर्थ ही न रहे। सौभाग्य से ऐसा नहीं है। वियोग कठोर सत्य न होकर तरल अवस्था में ही रहता है। वियुक्त वस्तुएं अपना रूप बदलती रहती हैं एक-दूसरे में मिलती-जुलती हैं परमाणु अपनी सीमाओं को तोड़कर नये मिश्रण तैयार करते रहते हैं और जीवन की परिभाषा

[1] आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।

दिन-प्रतिदिन अनिश्चित होती है।

हमारी आत्मा का विश्वात्मा से विछोह हुआ है किन्तु यह जुदाई प्रेम की जुदाई है इसलिए हमारी आत्मा में यह शक्ति रहती है कि वह असत्य कष्ट और पाप पर विजय-लाभ करती है और इन्हें नये शक्ति और सौन्दर्य पूर्ण रूपों में बदलती रहती है।

गायक अपने आनन्द को गीत में बदलता है अपने आनन्द को प्रत्यक्ष रूप देता है श्रोता उस गीत का फिर उसके मूलरूप आनन्द में जन्म देता है। आनन्द से ही गति का उद्भव हुआ और आनन्द में ही वह बदल गया। तभी गायक और श्रोता में एकरसता आती है एकात्मता आती है। इसी तरह यह असीम आनन्द अपने को अनेक रूपों में नियमों के माध्यम से प्रकट कर रहा है। हम उन रूपों को फिर नव आनन्द में ही परिवर्तित कर देते हैं *नियमों को प्रेम बना देते हैं* तो हम एक टूटे सूत्र को फिर जोड़ देते हैं। शृंखला पूरी हो जाती है।

मनुष्य की आत्मा नियम से प्रेम नियन्त्रण से मुक्ति और नैतिक से आत्मिक धरातल की ओर यात्रा कर रही है। बुद्ध ने आत्मसंयम और नियमित जीवन का उपदेश दिया वह आदर्श नियमों की पूर्णता का था। किन्तु नियमों का यह बन्धन ही हमारा अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। इन बन्धनों पर पूर्ण स्वामित्व पाकर हमें आगे बढ़ने की योग्यता प्राप्त हो जाती है। हम फिर ब्रह्म की ओर, असीम प्रेम-पुंज की ओर बढ़ते हैं। बुद्ध ने इसे ब्रह्म विहार कहा है अर्थात् ब्रह्म में स्थित रहने का आनन्द। बुद्ध के ही शब्दों में जो मनुष्य स्थिति में पहुँचना चाहता है उसका कर्तव्य है कि वह किसीको धोखा न दे किसीसे विद्वेष न करे और क्रोध द्वारा भी किसीको कष्ट न दे। उसके हृदय में *प्रत्येक प्राणी के लिए असीम प्रेम होगा* इतना प्रेम जितना माँ के दिल में अपने बच्चे के लिए होता है। वह व्यक्ति अपने ऊपर, नीचे और अपने चारों ओर प्रेम का विस्तार करता है। उठते-बैठते सोते-जागते चलते-फिरते हर समय उसका हृदय सबके लिए कल्याण कामना से परिपूर्ण रहता है।

प्रेम का अभाव भी एक मात्रा में विद्वेष का ही एक रूप है, क्योंकि प्रेम चेतना का पूर्ण रूप है। प्रत्येक वस्तु का जो भी अस्तित्व रखती है

प्रयोजन प्रेम में ही पूरा होता है। अतः प्रेम केवल एक भावना नहीं है यह सत्य है, यह वह आनन्द है जो प्रत्येक वस्तु के निर्माण का मूलस्रोत है। यह पूर्ण चेतनता की वह स्वच्छ, श्वेत किरण है जो ब्रह्म से उद्‌भूत होती है। इस 'सर्वानुभू' व्यापक अस्तित्व से जो आकाश में और हृदयाकाश में विद्यमान है एकात्मता पाने का एकमात्र मार्ग प्रेम ही है। यदि आकाश इस प्रेम से आनन्द से न भर जाए तो कौन अनुप्राणित होगा कौन गतिशील होगा ![1] अपनी चेतनता को प्रेम की ऊंची सतह तक ले जाकर और विश्व भर में इसी प्रेमाप्त चेतनता का विस्तार करके ही हम ब्रह्मविहार, या असीम आनन्द में एकात्मता प्राप्त कर सकते हैं।

प्रेम स्वतः अनन्त उपहार देता है। किन्तु इन उपहारों का कुछ भी अर्थ नहीं है यदि हम उन द्वारा उस प्रेम को नहीं पाते जो स्वयं उपहार दे रहा है। उसे पाने के लिए हमारा हृदय भी उसी प्रेम से पूर्ण होना चाहिए। प्रेमरहित हृदय से उपहार लेनेवाला केवल वस्तु की उपयोगिता जानकर उपहार लेता है। यह उपयोगिता तो क्षणिक और एकपक्षीय है। यह केवल हमारी क्षणिक इच्छा को शान्त करती है। इच्छा की शान्ति के बाद यह उपयोगिता ही भार बन जाती है। किन्तु एक उपहार या प्रेम-चिह्न हमारे लिए स्थायी मूल्य की वस्तु बन जाता है यदि हम उसे प्रेमभाव से ही स्वीकार करें। उपहार की उपयोगिता केवल भावना में है। वह स्वयं में पूर्ण है किसी अन्य अर्थ की सिद्धि का साधन नहीं है। उपहार जब साधन बन जाए तो उपहार नहीं रहता।

प्रश्न यह है कि हम जगत् को जो आनन्द का पूर्ण उपहार है किस रीति से स्वीकार करते हैं। क्या हम इसे अपने उस हृदय-मन्दिर में स्थान देते हैं जहां हम अपने अमर देवताओं का प्रतिष्ठान करते हैं। साधारणतया हम विश्व की शक्तियों का उपयोग करके अधिक से अधिक शक्ति-संग्रह करने में व्यग्र रहते हैं। विश्व के अक्षय भंडार से हम यथाशक्ति अधिकाधिक पाने की प्रतियोगिता में लड़ते झगड़ते जीवन बिता देते हैं। क्या यही हमारे जीवन का ध्येय है ? हमारा मन केवल जगत् का उपभोग करने की चिन्ता में व्यस्त रहता है—इसीसे हम इसका सच्चा मूल्य नहीं पहचान

[1] को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

पाते हम अपनी भोग-कामनाओं और विलासी चेष्टाओं से इसे सस्ता बना देते हैं और अन्त में हम इसे केवल अपनी पूर्ति का साधन मान बैठते हैं और उस नादान बालक की तरह जो पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़कर रखते हुए आनन्दित होता है प्रकृति की उधेड़-बुन में ही जीवन का आनन्द समझ बैठते हैं। उसका असली मूल्य हमारे लिए उसी तरह रहस्य बना रहता है जिस तरह उसके पन्नों से खेलनेवाले बच्चे के लिए पुस्तक का ज्ञान।

मनुष्य-भक्षक जातियों में मनुष्य भी खाद्य भोजन माना जाता है। मनुष्य का मूल्य अन्य खाद्य-पदार्थों की तरह ही मापा जाता है। ऐसे देश में सभ्यता कभी पनप नहीं सकती क्योंकि मनुष्य पशुओं की तरह पर आ जाता है, अपनी श्रेष्ठता भूल जाता है। कुछ अन्य प्रकारों भी मनुष्यता भक्षकता भी देखने में आती है। वह भी कम पैशाचिक नहीं है। उसे देखने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। पास ही सभ्य देशों में उसके निशान मिल जाएंगे। कुछ सभ्य देशों में भी मनुष्य केवल हाड़-मांस का पिंजर समझा जाता है, और वह बाजार में अपने शरीर की कीमत पर ही खरीदा व बेचा जाता है। उसे अपनी उत्पादक उपयोगिता का मूल्य मिलता है उसे मशीन समझा जाता है जिसे पसेवाले और अधिक पसा बनाने के लिए खरीदते हैं। इस तरह हमारा लोभ हमारी भोगेच्छा हमारी भोलुपता मनुष्य को निकृष्टतम धरातल पर ले जाती है। यह एक बड़े पैमाने की आत्मवंचना है। हमारी भोगलिप्सा हमें मनुष्य की आत्मा के देखने को अंधी बना देती है। अपनी आत्मा के साथ हम यह घोर अन्याय करते हैं। इससे हमारी विवेक-बुद्धि नष्ट हो जाती है और हम आत्मिक अपघात के मार्ग पर चल पड़ते हैं। यह हत्या हमारी सभ्यता के शरीर पर भद्दे दाग छोड़ जाती है शहरों में पाप की कन्दराएं, वेश्याघर और शराबखाने—बनाती है। उनके बचाव में प्रतिहिंसक कानून बनते हैं क्रूर जेलखाने बनते हैं। और एक देश द्वारा दूसरे देश को गुलाम बनाने की योजनाएं बनती हैं। यही भोगेच्छा है जो एक जाति को दूसरी जातियों के संगठित शोषण के लिए उत्तेजित करती है और उन्हें सदा के लिए पददलित करके स्वशासन अयोग्य बना देती है।

निस्सन्देह मनुष्य बहुत उपयोगी शक्ति है, क्योंकि उसका शरीर एक

आश्चर्यजनक यन्त्र है और उसके मन मे अलौकिक क्षमता है। किन्तु उसमें आत्मा भी है जिसे प्रेम भी कहते हैं। जब हम उसकी उपयोगिता को दृष्टि मे रखकर बाजार में उसका मूल्य-निर्धारण करते हैं तो हम उसका अधिक मूल्य ही आंकते हैं। हम उसे पूर्ण रूप से नहीं जानते। यह अपूर्ण ज्ञान हमें मनुष्य के साथ अन्याय करने की सुविधा दे देता है और हम अपने लोभ के लिए उसका शोषण करके अपनी इस कुशलता पर गर्वित होते हैं कि हमने बाजार में उसके लिए जो मूल्य दिया था उससे अधिक मूल्य का लाभ उठा लिया। हमारी यह मनोवस्था इसी कारण होती है कि हम उसकी आत्मा से परिचित नहीं। उसे अपने से जुदा समझते हैं। यदि हम उसे अपना ही अंश समझें तो उसके दुःख को अपना दुःख समझेंगे और उसे निकृष्ट धरातल पर ले जाते हुए ऐसा अनुभव करेंगे मानो हम अपना ही मूल्य घटा रहे हैं।

एक दिन मैं गंगा में नाव पर जा रहा था, शरद् की सुन्दर सन्ध्या का समय था। सूरज अभी-अभी अस्त हुआ था। आकाश की निस्तब्धता पूर्ण शान्ति और सौंदर्य से लबालब भरी हुई थी। पानी की फैली हुई चादर पर एक भी बुलबुला नहीं था। सूर्यास्त के बदलते हुए नव रंग उसमें बड़े साफ चमक रहे थे। मीलों तक रेत के मैदान फैले हुए थे। मानो कोई समुद्री दैत्य लेटा हुआ था जिसकी पूंछ चमकते रंगों से झिलमिला रही थी। हमारी नाव तट के ऊंचे घाट से लगी हुई धीमे-धीमे बह रही थी। अचानक एक बड़ी मछली पानी की सतह पर उछली। उसके कोमल होते शरीर पर सान्ध्य आकाश के सभी रंगों की झलक पड़ी। एक क्षण के लिए उसने रंगमंच से वह सप्तरंगी परदा हटा दिया जिसके पीछे जीवन के आनन्द से भरा हुआ मौन संसार खड़ा था। वह न जाने किस रहस्यमय संसार से नृत्य करती हुई आई थी और अवसानप्राय दिवस के स्वर में अपना संगीत मिलाकर लौट गई थी। मुझे प्रतीत हुआ जैसे किसी अज्ञात प्रदेश से मुझे प्रेम भरा स्वागत मिला हो। हृदय को छूती हुई इस घटना ने मेरे हृदय में आनन्द की लहर-सी पैदा कर दी। किन्तु उसी समय मैंने नाविक के मुख से यह दुःख भरा वाक्य सुना 'ओहो! कितनी बड़ी मछली थी!' मछली को देखते ही उसने इसका भोजन बनाकर खाने की कल्पना कर भी ली।

वह केवल अपनी भूख की नजर से ही मछली को देख सकता था। इसलिए मछली के वास्तविक सौंदर्य का उसे आभास ही नहीं हो सकता था। किंतु मनुष्य में केवल पशु-दृष्टि नहीं है। उसमें आत्मिक दृष्टि भी है—जो सत्य को देख सकती है। यही उसके आत्मिक आनन्द का कारण होती है क्योंकि यही उस रहस्यमयी सुन्दर समता का अवलोकन कराती है जो उसके अपने और आसपास की वस्तुओं के बीच होती है। हमारी लोभेच्छा हमारी आंखों पर परदा डालकर इसकी दर्शनशक्ति को बहुत सीमित बना देती है हमारी विवेकशक्ति को संकीर्ण बनाती है और पाप भावना को जगाती है। यही पाप-भावना है जो विषमता और अहंकारपूर्ण व्यक्तित्व को उत्साहित करके हमारे बीच दीवार बन जाती है।

पाप अकेला एक ही कार्य नहीं है यह तो एक मनोवस्था या विचार धारा का परिणाम है जो लोभ को ही जीवन का लक्ष्य मानती है और यह समझती है कि वस्तुओं में कोई दिव्य समता नहीं है और हर कोई अपने लिए जीता है।

इसीलिए मैं यह बात दोहराता हूं कि हम जब तक मनुष्य से प्रेम नहीं करेंगे उसको पूरी तरह समझ नहीं सकेंगे। सभ्यता की परख यह नहीं होनी चाहिए कि उसने कितना शक्ति-संग्रह किया है बल्कि यह कि उसने मनुष्य-प्रेम को विकसित करने के मार्ग में कितना कार्य किया है कौन-सी संस्थाएं बनाई हैं कौन-सी व्यवस्था की है और व्यवस्थित उद्योग किया है। सबसे पहला और अंतिम प्रश्न यह है कि यह मनुष्य को केवल एक यंत्र मानती है या जीवित आत्मा। प्राचीन सभ्यताओं का अन्त जब भी हुआ इसी कारण से हुआ कि उन्होंने मनुष्य का मूल्य घटा दिया था, मनुष्य-हृदय ने क्रूरता अपना ली थी। जब कोई राष्ट्र या उसका प्रभावशाली जनसमूह मनुष्य को अपने शक्ति-संग्रह का उपकरण-मात्र समझना शुरू कर दे तभी वह मनुष्य की महानता पर कुठाराघात करता है। कोई भी सभ्यता ऐसी मनुष्य भक्षी राक्षसी वृत्तियों के आधार पर खड़ी नहीं रह सकती।

जैसा मनुष्य के साथ है वैसा ही प्रकृति के साथ भी है। जब हम संसार को अपनी कामनाओं के परदे से देखते हैं तो उसे संकीर्ण बनाते हैं और वास्तविक सत्य को नहीं देखते। यह सच है कि संसार हमारी आवश्य

कतार्थों को पूरा करता है किन्तु यही तो उससे हमारा नाता नहीं है। हम केवल उपयोगिता व स्वार्थ-साधन के निमित्त ही तो संसार से बंधे हुए नहीं हैं। हमारा सम्बन्ध इससे गहरा है। हमारा साहचर्य सच्चा है। हमारी आत्मा भी संसार के प्रति आकर्षित होती है जीवन के प्रति हमारा गहरा प्रेम भी हमें इस महान् विश्व से आत्मीयता जारी रखने की प्रेरणा देता है। यह संबंध प्रेम का संबंध है। हमें खुशी है कि हम इस संसार के वासी हैं अनेक सूत्रों से हम इससे बंधे हुए हैं। ये सूत्र पृथ्वी से नक्षत्रलोक तक फैले हुए हैं। मनुष्य अपने प्राकृत जगत् से पृथक्त्व दिखलाकर अपनी महानता सिद्ध करने की व्यर्थ ही कोशिश करता है। इसी अभिप्राय से कई बार तो वह भौतिक जगत् से सर्वथा उदासीनता भी दिखलाने लगता है। किन्तु ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उसे इस पृथक्त्व को जतलाने में कठिनाई का अनुभव होता जाता है। पृथक्त्व के लिए जो दीवारें वह खड़ी करता है वे धीरे-धीरे एक के बाद एक गिरती जाती हैं। यदि हम अपने अहंकार को अपने आत्मबोध के मार्ग में अवरोधक बना लें तो यह अवरोध किसी न किसी दिन सत्य के महान् चक्र में अवश्य पिसेगा। हमारी आत्मा अपने से कम विस्तृत संसार में रहना पसन्द नहीं करेगी। जिस तरह कोई भी व्यक्ति हमेशा दास-दासियों से घिरा रहना नहीं चाहता अपने जैसे स्वतन्त्र मनुष्यों में उठना-बैठना चाहता है उसी तरह हमारी आत्मा भी अपने जैसी विशाल और स्वतन्त्र शक्तियों के बीच ही रहना चाहती है।

विज्ञान की नई प्रगति भी विश्व की एकता और विश्व के साथ हमारी एकात्मता के सत्य को अधिकाधिक स्पष्ट करती जा रही है। एकता की पूर्णता का यह अनुभव केवल तर्क से ही मान्य हो ऐसा नहीं है। जब हमारी आत्मा विश्वात्मा की ज्योति में अपने स्वरूप को प्रकाश में लाती है तो वह एक व्यापक प्रेम और आलोक भरे आनन्द के रूप में प्रकट होता है। हमारी आत्मा संसार में अपने से महत्तर आत्मा का अनुभव करती है और उसकी अमरता पर उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है। हमारी आत्मा अहं की नजरबन्दी में सैकड़ों बार मरती है क्योंकि पृथक्त्व में ही मृत्यु है उसे अमर नहीं बनाया जा सकता। किन्तु जहां यह सबभूतों में आत्मवत् देखता है वहां यह कभी मरता नहीं। मनुष्य स्वतन्त्र ही तब कहलाता है जब वह

# कर्म-साधना से प्रभु-प्राप्ति

जिन्हें यह मालूम है कि आनन्द स्वयं को नियमों के रूप में प्रकट करता है वही नियमों का सच्चा पालन करते हैं। उनके लिए नियमों के बन्धन शिथिल नहीं हो जाते हैं किन्तु वही बन्धन स्वतन्त्रता की साकार मूर्ति अवश्य हो जाते हैं। मुक्त आत्माएं बन्धनों को सानन्द स्वीकार करती हैं उनसे बच निकलने का रास्ता नहीं ढूंढतीं क्योंकि हर बन्धन में उसी असीम शक्ति का साक्षात् करती हैं जिसका आनन्द निर्माता है।

वस्तुतः जहां बन्धनों का सर्वथा अभाव हो और जहां उन्मत्त स्वच्छन्दता नाच रही हो वहां आत्मा की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। वह वहां असीम से वियुक्त हो जाती है पाप के सन्ताप में ग्रस्त अनुभव करती है। जब कभी भोग की इच्छा के वशीभूत होकर आत्मा नियम-बन्धनों की उपेक्षा करती है तभी वह माता की गोद से वियुक्त बच्चे की तरह पुकार उठती है 'मा माहिंसी' मेरी हिंसा मत कर मुझे अपनी बांहों में बांध ले कस ले अपने नियमों की शृंखला में आनन्द की मणियों के संग पिरो ले और मुझे अपने लोहे के समान कठोर पंजे में रखकर पाप की मारक लपकीली लपटों से बचाए रख।

कुछ लोग नियमों के बन्धन को आनन्द से सहज विरोध मानकर अनियमित उन्माद को ही आनन्द मान बैठते हैं। इसी तरह कुछ ऐसे हैं जो कर्म के बन्धन को स्वतन्त्रता से सहज विरोध मानते हैं। उनका विचार है कि क्योंकि कर्म का क्षेत्र पार्थिव जगत् है इसलिए आत्मा को कर्म के लिए बंधन में बांधना पड़ता है। किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस तरह आनन्द नियमों के रूप में अपने को प्रकट करता है उसी तरह आत्मा

स्वयं को कर्म के रूप में प्रकट करती है। आनन्द अपने ही रूप में प्रकट नहीं हो सकता इसलिए वह प्रकाशित होने के लिए नियमों पर निर्भर करता है। इसी तरह आत्मा भी अपने ही रूप में प्रकट नहीं हो सकती अत वह बाह्य कर्मों के रूप में प्रकट होती है। आत्मा अपने स्वरूप के आच्छादनों से मुक्त होती रहती है—यह उसका स्वभाव है। ऐसा न होता तो आत्मा स्वतन्त्र रूप से किसी काम में प्रवृत्त नहीं होती।

मनुष्य जितना ही कर्म में प्रवृत्त होता है और अपने प्रसुप्त तत्त्वों को स्पष्टता का रूप देता है उतना ही वह दूर के होनहार को निकट लाता है। इसी स्पष्टीकरण मे मनुष्य अपने ही रूप को अधिक से अधिक स्पष्ट करता है और नये-नये पहलू से नष्ट प्रवृत्तियों में अपना साक्षात् करता है। यह साक्षात्कार उसकी स्वतन्त्रता की क्षति-पूर्ति कर देता है।

स्वतन्त्रता अन्धकार में अदृश्यता में या अस्पष्टता में नहीं है। अदृश्यता से अधिक भयावह बन्धन कौन-सा हो सकता है? इस भयानक अदृश्यता से मुक्ति पाने के लिए ही बीज संघर्ष करके अंकुर रूप मे फूटता है और कली फूटकर फूल के रूप में खिलती है। इसी डरावनी गुप्त अन्धता से मुक्त होने के लिए हमारे मन क विचार किसी बाह्य रूप में प्रकाशित होने का अवसर खोजते रहते है। इसी तरह हमारी आत्मा अस्पष्टता की धुन्ध मे मुक्ति पाकर प्रकाश में आने के लिए नये कर्मक्षेत्र का निर्माण करती है नित्य नये कर्मों में प्रवृत्त होती है भले ही वे काम उसकी पार्थिव आवश्य कताओं क लिए उपयोगी हों या न हो। वह ऐसा क्यों करती है?—इसलिए कि वह स्वतन्त्रता चाहती है। वह अपना साक्षात् करना चाहती है, अपने को अनुभव करना चाहती है।

मनुष्य बीहड़ जगल को काटकर उपवन में बदलता है। इस तरह जंगल की कुरूपता म बंधे जिस सौंदर्य को वह मुक्त करता है वह उसकी आत्मा का ही सौंदय है। उस बाहरी क्षेत्र से मुक्त किए बिना अपने भीतर भी वह उस मुक्त नहीं कर सकता। इसी तरह जब वह समाज की उच्छृंखल प्रवृत्तियों के बीच न्याय नियम या सयम करता है तब जिस कल्याण को कुत्सित पाप-बन्धनों से मुक्त करता है वह उसकी आत्मा का ही कल्याण होता है। बाह्य जगत् से उस मुक्त किए बिना वह मुक्ति की आशा नहीं

कर सकता। इस प्रकार मनुष्य अपने कल्याण अपनी शक्तियों अपने सौंदर्य और अपनी आत्मा को मुक्त कराने में प्रतिक्षण व्यग्र रहता है। इस बन्ध विमोचन कार्य में मनुष्य को जितनी सफलता मिलती है उतना ही उसका व्यक्तित्व विस्तीर्ण होता जाता है।

उपनिषदों का प्रवचन है कि मनुष्य कर्म में प्रवृत्त रहता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।[1] यह वचन उन ऋषियों का है जो आत्मिक आनन्द की साक्षात् अनुभूति कर चुके थे। जो आत्मा का बोध कर लेते हैं वे कभी कर्मबन्धन को अभिशाप नहीं कहते या कर्म-सन्यास की चर्चा तक नहीं करते। वे उस कमजोर कली की तरह नहीं होते जो फल देने से पूर्व ही मुरझाकर गिर पड़े। वे आत्मज्ञानी जीवन के कार्यों में तब तक संलग्न रहते हैं जब तक वे फलीभूत न हो जाए। वे अपने कार्य में पूरी शक्ति से प्रवृत्त रहते हुए अपने कार्य की सिद्धि में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। शोक और दुःख के सन्ताप से वे निश्चेष्ट नहीं होते और न उनके हृदय का बोझ उन्हें निष्क्रिय बनाता है। विजेताओं की तरह मस्तक उठाकर वे जीवन के सुख-दुःख में एक समान रहते हुए आगे बढ़ते जाते हैं अपने रूप का साक्षात् करते हैं और अपनी सदा वर्धमान आत्मज्योति को प्रकट करते जाते हैं। उनकी आत्मा का आनन्द उनके जीवन की उस शक्ति के साथ चलता है जो विश्व के बनाने-बिगाड़ने के सब खेल खेलती है। सूर्य के प्रकाश का आनन्द और स्वतन्त्र हवा का आनन्द उसके जीवन के आनन्द के साथ मिलकर एक ऐसे संवादी रस की रचना करते हैं जो बाह्य और आन्तरिक जगत् के अणु-अणु को व्याप्त कर देता है। ऐसे सिद्ध पुरुष ही पुकार पुकारकर यह कह गए हैं, कर्म में प्रवृत्त रहकर ही तुम सौ वर्ष जीने की इच्छा करो।

मनुष्य में जीवन का यह आनन्द प्रवृत्ति का यह आनन्द सच्चा आनन्द है। इसे मिथ्या भ्रमपूर्ण आनन्द कहना आत्मवंचना है। इस वंचना का त्याग किए बिना हम आत्मबोध के मार्ग पर नहीं चल सकते। प्रवृत्तिमय संसार का त्याग करके यदि हम असीम को जानने की कोशिश करेंगे भी तो वह प्रयास व्यर्थ जाएगा।

१ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

यह सच नहीं है कि मनुष्य केवल परवशता में काम करता है। उपयोगिता की प्रेरणा अवश्य मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करती है किन्तु उसके साथ आनन्द की प्रेरणा भी है।

इसीलिए सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य स्वेच्छा से अपनी प्रवृत्तियों में और अपने उपादेय कार्यों के क्षेत्र में विस्तार करता जाता है। कुछ लोग सोचते हैं कि प्रकृति के नियम भूख-प्यास आदि ही मनुष्य को काम-तत्पर रखने में पर्याप्त हैं इनकी प्रताड़ना से ही वह काम में तत्पर होता है, किन्तु यह सच नहीं है। मनुष्य ने केवल प्राकृतिक प्रेरणाओं के वश में होकर पशु-पक्षियों की तरह कार्य करने में सन्तोष नहीं माना। वह पशु पक्षियों से भिन्न है। उसकी इच्छाएं और प्रेरणाएं भी भिन्न हैं। किसी भी जीव को इतना कठिन श्रम नहीं करना पड़ता जितना मनुष्य स्वेच्छा से करता है। वह निरन्तर बनाता है मिटाता है नियमों की रचना करता है, उन्हें सुधारता है उपकरणों को एकत्र करता है हर समय नई चिन्ताओं में व्यस्त और नये मार्गों के अन्वेषण में लगा रहता है। उसकी साधना का यन्त्रणा का कोई अन्त नहीं। इस क्षेत्र में भी उसने घोर संग्राम किए हैं नया जीवन पाया है। मृत्यु को यशस्वी बनाया है और कष्टों से बचने के स्थान पर स्वेच्छा से नये-नये कष्टों को निमन्त्रण दिया है। उसने यह निश्चय किया है कि अपनी परिस्थितियों के पिंजरे में कैद रहकर ही वह पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता वह अपने वर्तमान की अपेक्षा महान् है और एक ही स्थल पर खड़े रहना भले ही विश्रान्तिदायक हो जीवन के विकास को रोक देता है। यही विकास जीवन का लक्ष्य है। इसपर प्रतिबन्ध लगाना आत्मघात करना है। विकास की प्रगति को रोकना विनाश की ओर चलना है।

इस 'महती विनष्टि' महान् विनाश को मनुष्य ने स्वीकार नहीं किया। इसीलिए वह सदा यत्नशील रहता है जिससे वह अपने वर्तमान से महान् बन सके और अप्राप्त मनोरथ को पूर्ण कर सके। इसी साधना में मनुष्य का यश है। यही जानकर उसने न केवल अपनी प्रवृत्तियों में न्यूनता नहीं की बल्कि उनके क्षेत्र को विस्तीर्ण करने में भी वह सदा तत्पर रहता है। हमारे ऋषि हमें सावधान कर गए हैं कि हमें जीने के लिए कुछ काम करना

होगा और काम करने के लिए जीना होगा। जीवन और कर्म का अटूट सम्बन्ध रहेगा।

स्वभाव से ही जीवन अपनी सीमा में पूर्ण नहीं होता, उसे बाहर आना पड़ता है। जीवित रहने-मात्र के लिए हम बाहरी शक्तियों प्रकाश और हवा पर निर्भर करते हैं। अपने अन्दर की प्रयोगशाला में ही हम कितने व्यस्त रहते हैं हृदय की गति एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं लेती हमारे पाचन-यन्त्र मस्तिष्क तथा अन्य अवयवों को अविराम काम करना पड़ता है। किन्तु इतने पर ही हम सन्तोष नहीं करते। बाहरी हलचल भी हम हरदम बनाए ही रहते हैं। एक क्षण के लिए भी हमारी व्यस्तता का मूल्य समाप्त नहीं होता।

यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी केवल अपनी आंतरिक अनुभूतियों या कल्पनाओं पर जीवित नहीं रह सकती। उसे भी बाह्य ध्येय की आवश्यकता है अपनी चेतना को पुष्ट करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं को प्रवृत्त रखने के लिए। इस प्रवृत्ति का ध्येय केवल प्राप्ति नहीं होता प्रदान भी होता है।

सच है कि हम सचाई को हिस्सों में बांट नहीं सकते। हमें उसके अन्दर-बाहर म भेद नहीं करना चाहिए। आन्तरिक जगत् हो या बाह्य जगत् दोनों जगह हमें उसकी आज्ञा का पालन करना होगा। जहां भी हम उसके विरुद्ध चलेंगे दण्ड के भागी होंगे। 'ब्रह्म नहीं छोड़ता, हम भी ब्रह्म को न छोड़ें।'[1] यह वाक्य हमारे बाह्याभ्यन्तर दोनों पर चरितार्थ होता है। यदि हम सोचें कि सत्य केवल आत्मनिरीक्षण या आत्मचिन्तन द्वारा हम प्राप्त कर लेंगे और अपनी बाह्य प्रवृत्तियों में उसका ध्यान नहीं रखेंगे, अथवा उसे हृदयस्थित प्रेम द्वारा जान लेंगे स्तुति-उपासना आदि बाह्य उपलक्षणों की आवश्यकता नहीं तो हम मार्ग में ही लड़खड़ाकर गिर पड़ेंगे। हमारी साधना अधूरी रह जाएगी।

पश्चिम के महान् देशों में देखा जाता है कि आत्मा बहिर्मुख वृत्तियों में ही अपना विस्तार ढूंढती है। उसकी विशेषता विस्तृत क्षेत्रों में शक्ति मदद करना ही है। आन्तरिक जगत् में पूर्णता पाने की आत्मा की भूख

---

१ माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इस पूर्णता को पश्चिम के देश मानते ही नहीं। पश्चिम का विज्ञान अभी तक संसार के विकास की चर्चा करता आया है। अब ईश्वर के विकास की चर्चा भी शुरू हो गई है। वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण रूप से विद्यमान है बल्कि यह मानते हैं कि उसका भी विकास हो रहा है।

वे यह बात नहीं मानते कि यद्यपि विश्व किसी भी माप या तुला-यन्त्र से तोला-मापा नहीं जा सकता किन्तु वह पूर्ण है। ब्रह्म भी अतुलनीय होते हुए पूर्ण है। वह विकसित भी हो रहा है और पूर्ण विकास पर भी पहुंचा हुआ है—उसी तरह जैसे संगीत पूर्ण होते हुए भी गायन में विकसित हो रहा होता है। हम गीत सुनते हुए केवल गीत के स्वरों का उतार-चढ़ाव अनुभव करते हैं गीत के विकास को देखते हैं किन्तु वह गीत गायक की आत्मा में उस विकास-काल में भी पूर्णतया विद्यमान होता है।

विकसित होने की प्रक्रिया को ही सत्य मानने वाले पश्चिम के लोग शक्ति-संग्रह में उन्मत्त रहते हैं। उन्होंने सब कुछ शक्ति के प्रयोग से पाने का भ्रम कर लिया है। अहंकार-विमूढ़ता ने उन्हें कर्ता होने का अभिमान दे दिया है। उन्हें पूर्णता के सौन्दर्य से कोई प्रेम नहीं और न ही वे प्रकृति के किसी भी कार्य को अन्तिम सत्य मानते हैं।

हमारे देश में इसके विपरीत है। हम दूसरे सिरे पर हैं। हम आन्तरिक शक्तियों को ही प्रधानता देते हैं। शक्ति-संग्रह व विस्तारकरण को हम नितान्त उपेक्षणीय समझते हैं। हम केवल चिन्तन-मनन द्वारा ब्रह्म को पाने की कल्पना करने लगते हैं। उसके बहिर्मुख विस्तार को हम अनुभव ही नहीं करते। इसीलिए हम अपने साधकों में आत्मिक मोहोन्मत्तता देखते हैं। वे नियमों के बन्धनों को भी स्वीकार नहीं करते और उनकी कल्पना बेलगाम दौड़ती है। उनकी बुद्धि ईश्वर की सृष्टि से ईश्वर को भिन्न बताने के लिए सिरतोड़ कोशिश कर रही है। किन्तु अब तक उन्होंने एक भी ऐसा माप-यन्त्र नहीं निकाला जिससे वे मनुष्य-चरित्र के उत्थान व पतन का माप सकें।

सच्ची आध्यात्मिकता आन्तरिक व बाह्य शक्तियों के संतुलित सम्बन्ध में है। सत्य के नियम भी हैं और सत्य में आनन्द भी है। एक ओर हमारे

होगा और काम करने के लिए जीना होगा। जीवन और कर्म का अटूट सम्बन्ध रहेगा।

स्वभाव से ही जीवन अपनी सीमा में पूर्ण नहीं होता, उसे बाहर आना पड़ता है। जीवित रहने-मात्र के लिए हम बाहरी शक्तियों प्रकाश और हवा पर निर्भर करते हैं। अपने अन्दर की प्रयोगशाला में ही हम कितने व्यस्त रहते है, हृदय की गति एक क्षण के लिए भी विश्राम नहीं लेती, हमारे पाचन-यन्त्र, मस्तिष्क तथा अन्य अवयवो को अविश्राम कार्य करना पड़ता है। किन्तु इतने पर ही हम सन्तोष नहीं करते। बाहरी हलचल भी हम हरदम बनाए ही रहते है। एक क्षण के लिए भी हमारी व्यस्तता का नृत्य समाप्त नही होता।

यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी केवल अपनी आंतरिक अनुभूतियों या कल्पनाओं पर जीवित नहीं रह सकती। उसे भी बाह्य ध्येय की आवश्यकता है अपनी चेतना को पुष्ट करने के लिए नहीं बल्कि स्वयं को प्रवृत्त रखने के लिए। इस प्रवृत्ति का ध्येय केवल प्राप्ति नहीं होता, प्रदान भी होता है।

सच है कि हम सचाई को हिस्सो में बांट नहीं सकते। हमें उसके अन्दर-बाहर में भेद नहीं करना चाहिए। आन्तरिक जगत् हो या बाह्य जगत्, दोनों जगह हमें उसकी आज्ञा का पालन करना होगा। जहां भी हम उसके विरुद्ध चलेंगे दण्ड के भागी होगे। 'ब्रह्म नहीं छोड़ता हम भी ब्रह्म को न छोड़ें।'[१] यह वाक्य हमारे बाह्याभ्यन्तर दोनों पर चरितार्थ होता है। यदि हम सोचें कि उसे केवल आत्मनिरीक्षण या आत्मचिन्तन द्वारा हम प्राप्त कर लेंगे और अपनी बाह्य प्रवृत्तियों में उसका ध्यान नहीं रखेंगे अथवा उस हृदयस्थित प्रेम द्वारा जान लेंगे स्तुति-उपासना आदि बाह्य उपलक्षणों की आवश्यकता नहीं तो हम मार्ग में ही लड़खड़ाकर गिर पड़ेंगे। हमारी साधना अधूरी रह जाएगी।

पश्चिम के महान् देशों में देखा जाता है कि आत्मा बहिर्मुख वृत्तियों में ही अपना विस्तार ढूंढती है। उसकी विशेषता विस्तृत क्षेत्रों में शक्ति संग्रह करना ही है। आन्तरिक जगत् में पूर्णता पाने की आत्मा की मूल

१ माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

को उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। इस पूर्णता को पश्चिम के देश मानते ही नहीं। पश्चिम का विज्ञान अभी तक ससार के विकास की चर्चा करता आया है। अब ईश्वर के विकास की चर्चा भी शुरू हो गई है। वे यह नहीं मानते कि वह पूर्ण रूप से विद्यमान है बल्कि यह मानते हैं कि उसका भी विकास हो रहा है।

वे यह बात नहीं मानते कि यद्यपि विश्व किसी भी माप या तुला-यन्त्र से तोला-मापा नहीं जा सकता किन्तु वह पूर्ण है। ब्रह्म भी अतुलनीय होते हुए पूर्ण है। वह विकसित भी हो रहा है और पूर्ण विकास पर भी पहुंचा हुआ है—उसी तरह जैसे सगीत पूर्ण होते हुए भी गायन में विकसित हो रहा होता है। हम गीत सुनते हुए केवल गीत के स्वरों का उतार चढ़ाव अनुभव करते हैं गीत के विकास को देखते हैं किन्तु वह गीत गायक की आत्मा में उस विकास-काल में भी पूर्णतया विद्यमान होता है।

विकसित होने की प्रक्रिया को ही सत्य मानने वाले पश्चिम के लोग शक्ति-संग्रह में उन्मत्त रहते हैं। उन्होंने सब कुछ शक्ति के प्रयोग से पाने का प्रण कर लिया है। अहंकार-विमूढ़ता ने उन्हें कर्ता होने का अभिमान दे दिया है। उन्हें पूर्णता के सौन्दर्य से कोई प्रेम नहीं और न ही वे प्रकृति के किसी भी कार्य को अन्तिम सत्य मानते हैं।

हमारे देश में इसके विपरीत है। हम दूसरे सिरे पर हैं। हम आन्तरिक शक्तियों को ही प्रधानता देते हैं। शक्ति-संग्रह व विस्तारकरण को हम नितान्त उपेक्षणीय समझते हैं। हम केवल चिन्तन-मनन द्वारा ब्रह्म को पाने की कल्पना करने लगते हैं। उसके बहिर्मुख विस्तार को हम अनुभव ही नहीं करते। इसीलिए हम अपने शोषकों में आत्मिक माहोन्मत्तता देखते हैं। ये नियमों के बन्धनों को भी स्वीकार नहीं करते और उनकी कल्पना बेलगाम दौड़ती है। उनकी बुद्धि ईश्वर की सृष्टि से ईश्वर को भिन्न बताने के लिए सिरतोड़ कोशिश कर रही है। किन्तु अब तक उन्होंने एक भी ऐसा माप-यन्त्र नहीं निकाला जिससे वे मनुष्य-चरित्र के उत्थान व पतन को माप सकें।

सच्ची आध्यात्मिकता आन्तरिक व बाह्य शक्तियों के सतुलित सम्बन्ध में है। सत्य के नियम भी हैं और सत्य में आनन्द भी है। एक ओर हमारे

दिव्य गीतकार कहते हैं 'भयाषस्याग्निस्तपति' (इसके भय से भी अग्नि जलती है), दूसरी ओर यह भी कहते हैं, 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि सर्वाणि भूतानि जायन्ते' (आनन्द से ही सब जीव जन्म लेते हैं)। ब्रह्म एक ओर अपने सत्य नियमों से बंधा है दूसरी ओर वह अपने आनन्द में स्वतन्त्र है।

हम भी जब सत्य नियमों के बन्धनों के आगे सिर झुका देते हैं तभी हम स्वतन्त्रता का आनन्द भोग सकते हैं, जैसे सितार की तार स्वर में बंध कर ही स्वतंत्रता का आनन्द उठाती है। जब वह पूरी कसी जाती है जब *उसके बंधन में ज़रा का अंश भी शेष नहीं रहता तभी स्वर-साधन होता* है राग के स्वर निकलते हैं। वह तार भी संगीत के स्वर को यथानुकूल प्रतिबिम्बित करता हुआ प्रत्येक तार की झंकार में स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। *एक ओर बन्धन में पूरी तौर पर बंधा होने के कारण ही वह संगीत की* उड़ान में पूरी स्वतन्त्रता से उड़ सकता है। वह तार यदि स्वर में बंधा न होगा तो वह बन्धन भी सच्चा बन्धन नहीं होगा। उसमें से स्वर प्रतिध्वनित नहीं होगा। बन्धन की थोड़ी-सी भी ढील उस तार को उस संगीत में प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता से वंचित कर देगी। अतः यह बन्धन भी पूर्ण होना चाहिए। *तभी स्वतन्त्रता में प्राप्त होने वाला आनंद भी पूर्ण होगा।*

हमारी कर्तव्य-तारें तभी तक बन्धन कहलाती हैं जब तक उनका स्वर सत्य के नियमों से नहीं मिलता। कर्महीनता में शिथिल हुई तारों को हम स्वतन्त्रता नहीं कह सकते। शिथिलता अकर्मण्य बनाती है स्वतन्त्र नहीं। *इसीलिए मैं कहता हूं कि सत्य व धर्म के बोध में प्रत्येक यत्न विश्वात्मा के* स्वर के साथ स्वर मिलाकर ही होना चाहिए। उस यत्न की टेक यही होनी चाहिए 'जो कुछ भी करो ब्रह्म के अर्पण कर दो।'[1] अर्थात् आत्मा को अपने कर्मों द्वारा आत्मार्पण करना है, यही अर्पण आत्मा का संगीत है इसी में इसकी स्वतन्त्रता है। जब सभी कर्म ब्रह्म के साथ एकात्म होने का मार्ग बन जाएं तभी आनन्द की प्राप्ति होती है। जब आत्मा बार-बार अपनी कामनाओं पर नहीं लौटती तभी पूर्णता मिलती है स्वतन्त्रता मिलती है और यह संसार ईश्वर का राज्य बन जाता है।

१ यद्यत्कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत्।

वह अज्ञानी है जो यह समझता है कि परमात्मा के साथ एकात्मता एकांत में अपनी कल्पनाओं में रहने से ही हो जाएगी। मानवता का एक आकाशचुम्बी मन्दिर बन रहा है सम्पूर्ण मानव-जगत् आंधी-वर्षा में भी कठिन परिश्रम करते हुए उसका निर्माण कर रहा है। इस श्रम में भागीदार हुए बिना अकेले कोने में बैठकर ईश्वर मिलन की आशा करना दुराशा है। इस एकांत चिन्तन को धर्म मानना मूर्खता है।

आत्ममद की शराब पीकर बेहोश हुए हुए हे परिव्राजक सन्यासी! क्या तुम्हें पृथ्वी पर फैले हुए खेत-खलिहानों से मनुष्यता की बढ़ती हुई आत्मिक यात्रा के पद-चाप सुनाई नहीं देते! इसकी विजय-यात्रा का जुलूस सभी अवरोध-बाधाओं को पार करता हुआ बढ़ रहा है। पर्वत शिखर भी इसके विजयघोष से फट जाएंगे और इसे स्वर्ग का मार्ग दे देंगे। सूर्य के आते ही जिस तरह कोहरा विलुप्त हो जाता है उसी तरह भौतिक वस्तुओं का आकार इसके आने से पूर्व ही अदृश्य हो जाएगा। कष्ट रोग और अव्यवस्था इसके आने से पूर्व ही पीछे हटने जा रहे हैं। अज्ञान की सब तरह की बाधाएं एक ओर गिरती जा रही हैं। अज्ञता का अन्धकार छिन्न भिन्न हो रहा है। और यह देखो! समृद्धि, स्वास्थ्य कविता कला, विज्ञान और सत्य का स्वरूप प्रकाश की पहली किरणों के साथ स्पष्ट होता जा रहा है। इस विजय-यात्रा के रथ का कोई संचालक नहीं है यह कहने का कौन साहस कर सकता है? कौन है जो इस यात्रा में साथ देने से इन्कार करेगा? कौन इतना मूर्ख होगा जो इस सम्मिलित जुलूस से अलग होकर अपनी अकेली कन्दरा के अंधेरे में ब्रह्म का शोध करेगा? कौन ऐसा घोर असत्यवादी होगा जो असत्य कहेगा या इस विषय को प्रवंचना कहेगा और जो दुनिया से दूर भागकर ईश्वर को पाने की कोशिश करेगा? इस दुनिया से दूर कौन-सी ऐसी जगह है जहां वह ईश्वर से मिलने की आशा रखता है?—कितनी दूर वह जा सकता है? क्या वह उड़ेगा और उड़कर शून्य में विलीन हो जाएगा? नहीं जो कायर उड़ना चाहता है, वह कभी उसे नहीं पा सकता। हमारे अन्दर यह कहने का साहस होना चाहिए कि हम ब्रह्म का इसी स्थान पर इसी समय अभी साक्षात्कार करेंगे। हमें यह प्रतीति होनी चाहिए कि जैसे हम अपने कर्मों द्वारा आत्मबोध कर रहे हैं

उसी तरह हम अपनी आत्मा में विश्वात्मा का अनुभव कर रहे हैं। हममें अपने प्रयत्नों से रास्ते के सब विघ्नों कांटों निष्कर्मण्यता अज्ञान अव्यवस्था को दूर करके निःसंकोच बिना संशय यह कहने का साहस होना चाहिए कि मेरे कर्मों में ही मेरा आनन्द है, और उस आनन्द में मेरे आनन्द का परमानन्द वास करता है।

उपनिषदों में 'ब्रह्मविदां वरिष्ठः'—ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठतम किसे कहा है? 'आत्मक्रीड आत्मरति आत्मवान्'—जिसका आनन्द ब्रह्म में हो। जो आनन्द आनन्द के क्षेम से शून्य है वह आनन्द नहीं और क्षेम कर्म के बिना क्षेम नहीं। कर्म ही आनन्द का क्षेम है। अतः जिसका आनन्द ब्रह्म में है वह कभी अकर्मी नहीं हो सकता। जिसका आनन्द ब्रह्म में होगा उसके कर्म भी ब्रह्मार्पित होंगे। जैसे कवि का आनन्द कविता में, कलाकार का कला में, शूरवीर का शौर्यकार्य में, ज्ञानी का सत्यान्वेषण में है, उसी तरह आत्मज्ञानी का आनन्द सब छोटे-बड़े दैनिक कार्यों में, सत्य में, सौन्दर्य में, व्यवस्था में ब्रह्म को प्रकट करता है।

ब्रह्म स्वयं भी इसी तरह अपने आनन्द को प्रकट करता है। अपनी बहुविध शक्तियां जो सब दिशाओं में प्रसारित होती हैं, ईश्वर अपनी सृष्टि के जीवों के आत्मनिहित प्रयोजनों को पूरा करता है।[1] वह आत्मनिहित प्रयोजन स्वयं ही है। और इस तरह वही अपने को बहुविध रूपों में प्रकट करता है। वह काम करता है, क्योंकि काम के बिना वह कैसे अपनी सम्पत्ति का दान करेगा? इस सदा दान देने में ही उसका आनन्द है।

इसीसे हमारा और ब्रह्म का सादृश्य होता है। हमें भी अनंत कामों में अनेकाध कामों में अपने-आपको भेंट कर देना होता है। वेदों में कहा है कि प्रभु आत्मदा है और बलदा भी। वह अपने आपको देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने ऐसा बल भी दिया कि हम स्वयं अपने को देने में—आत्मदान करने में समर्थ हों। तभी उपनिषद् के ऋषि उससे प्रार्थना करते हैं कि वह हमें बुद्धि दे। हममें भी वही बुद्धि होगी तो हम भी ब्रह्म के साथ मिलकर उससे समभाव होकर जगत् के काम कर सकेंगे। तभी हम उसमें सच्चे अर्थों में युक्त हो पाएंगे। परोपकारी बुद्धि वह है जो हमें दूसरों के स्वार्थ में

१ बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।

अपना स्वार्थ मानने की कल्पना दे जो यह बतलाए कि हमारा आनन्द मानव-कल्याण के कार्यों को पूरा करने में है। जब हम इस परोपकारी बुद्धि के नेतृत्व में काम करते हैं तो हमारे काम सयत हो जाते हैं किन्तु उनमें यन्त्रवत् जड़ता नहीं आती। उनकी प्रेरणा का स्रोत केवल हमारी आवश्यकताओं या स्वार्थों में नहीं होता बल्कि आत्मपरितोष में होता है। ऐसे कामों में अन्ध अनुकरण नहीं होता परम्पराओं की कायरतापूर्ण दासता नहीं होती बल्कि मौलिकता होती है ऐसे स्वतन्त्र कार्य ही आनन्दप्रद होते हैं। इस तरह कर्मशील होने पर ही हम यह अनुभव करना शुरू करते हैं कि 'वही प्रारम्भ में है और वही अन्त में है।'[1] इसी तरह यह भी देखते हैं कि हमारा काम ही स्वयं प्रेरणा का स्रोत है और अन्त में वह स्वयं तथा उसके सब काम शांति कल्याण और आनन्द से प्रेरित हो जाते हैं और आनन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं।

उपनिषद् का कथन है, 'ज्ञान शक्ति और काम उसके गुण हैं।'[2] यह स्वाभाविकता हमारे गुणों में नहीं है, इसीलिए हम काम और आनन्द में भेद करते हैं। हमारे काम के दिन हमारे आनन्द के दिनों से भिन्न होते हैं, इसीलिए हमें सप्ताह में एक दिन आनन्द का छुट्टी का दिन मनाना पड़ता है। हम अपने काम में आनन्द अनुभव नहीं करते सभी ऐसा होता है। नदी को अपने प्रवाह में ही छुट्टी मिल जाती है अग्नि को ज्वालाओं में फूल को सुरभि-प्रसार में आनन्द मिल जाता है किन्तु हमारे दैनिक कार्यों में हमें वह आनन्द नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि हम अपने काम में ही अपने को खो नहीं देते उसमें आनन्दपूर्वक इतना लीन नहीं हो जाते कि वह काम ही हमारे लिए सब कुछ हो जाए।

हे आत्मदानी! हमारी आत्मा तेरी अनुभूति से ऐसी जाग उठे जैसे अग्नि में ज्वालाएं जागती हैं ऐसी प्रवाहित हो उठें जैसे नदी की लहरें बहती हैं तेरी सुरभि का ऐसा प्रसार करे जैसे फूल करता है। हमें जीवन से प्रेम करने की सार्थकता दे ऐसा पूर्ण प्रेम जो जीवन के सब सुख-दुःख लाभ-हानि उत्थान-पतन के साथ प्रेम करे। हमें वह शक्ति दे जिसकी

१ विभैति चान्ते विश्वमादौ।

२ स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

सहायता से हम विश्व का अनुभव कर सकें और पूरे मनोयोग से विश्व की शक्तियों के संग काम कर सकें। हमें ऐसा बल दे कि हम तेरे वरदान से प्राप्त जीवन को पूरी तरह निभा सकें कायर न हों बहादुरी से लेन-देन कर सकें। हमारी तुमसे यही प्रार्थना है। हमारे मन से यह निर्बल भावना दूर हो जाए कि आनन्द काम से भिन्न है, वह सागर के फेन की तरह अस्पष्ट या कोहरे की तरह क्षण-स्थायी है। किसान जहां भी श्रम करेगा वहीं उसका आनन्द धान की हरी कोंपलें बनकर फूट पड़ेगा। मनुष्य जहां भी बीहड़ जंगलों को काटकर खेत या नगर बनाएगा वहीं उसका आनन्द व्यवस्था और शांति बनकर प्रकट हो जाएगा।

हे विश्व के कर्मकार! हमारी प्रार्थना है कि तुम्हारी विजय-शक्ति का अजस्र प्रवाह वसन्त की दक्षिणी हवा की तरह आए और समस्त मनुष्य जीवन के खेतों को आच्छादित कर ले। इस हवा में विविध देशों के फूलों की सुवास मिली हो। यह हवा हमारी शुष्क और निर्जीव आत्माओं में अपना मधुर रस भर दे और हमारी सब जाग्रत् शक्तियां पूर्णता की पुकार कर उठें।

# सौंदर्य-साधना

जिन वस्तुओं में हम आनन्द नहीं लेते वे या तो हमारे मन पर ऐसा बोझ होती हैं जिनसे हम जैसे भी हो सके छुटकारा पाना चाहते हैं अथवा उनकी क्षणिक उपयोगिता होती है जो कुछ काल बाद नष्ट होकर अन्त में केवल भार-स्वरूप रह जाती हैं या वे उन सदा घूमते-फिरते मुसाफिरों की तरह होती हैं जो हमारी परिचिति को क्षण भर छूकर अलग हो जाते हैं। उनका परिचय क्षणिक और निरानन्द होता है। किसी भी वस्तु से हमारा पूरा अपनापन तभी बनता है जब वह हमारे स्थायी आनन्द का कारण बने।

इस संसार का अधिकांश ऐसा ही है जिसका होना न होना हमारे लिए बराबर है किन्तु यह स्थिति हमें वांछनीय नहीं है। इससे हमारा अस्तित्व छोटा बनता है। सारा विश्व हमें दिया गया है और हमारी सम्पूर्ण शक्तियों की यथार्थता इसी विश्वास में है कि हम उनकी सहायता से सारे विश्व की विरासत पर अधिकार कर सकेंगे।

प्रश्न यह है कि आत्मचेतना के इस विस्तार में हमारी सौन्दर्य-बुद्धि का क्या काम है? इसका कार्य क्या सचाई को प्रकाश और छाया में बांटना सुन्दर-असुन्दर के भेद को गहरा बनाना है? यदि यही है तो हमें मानना पड़ेगा कि यह सौन्दर्य-बुद्धि हमारे विश्व में असमानता का बीज बोती है। और उस ऐक्य भावना के मार्ग में अवरोधक होती है जो विभिन्नता से एकता की ओर ले जाती है।

सौन्दर्य-बुद्धि का यह कार्य नहीं है। परिचित अपरिचित रुचिकर अरुचिकर चीजों में गहरा भेद तभी तक रहता है जब तक हमारा ज्ञान

अधूरा रहता है। मनुष्य अपने ज्ञान का क्षेत्र प्रतिदिन विस्तृत कर रहा है। विज्ञान की सहायता से हम विश्व के अब-पर्यन्त अज्ञात प्रदेशों में भी प्रवेश करते जा रहे हैं। हमारी सौन्दर्य-बुद्धि भी नये से नये अनुसंधानों का अनुकरण कर रही है। सचाई सर्वत्र है प्रत्येक वस्तु हमारे ज्ञान का विषय है। सौन्दर्य विश्व की प्रत्येक वस्तु में व्याप्त है इसलिए प्रत्येक वस्तु हमारे आनन्द का स्रोत बन सकती है।

इतिहास के प्रारम्भिक काल में मनुष्य प्रत्येक वस्तु को जीवन का चमत्कार मानता था। उसकी दृष्टि में जीवन का विज्ञान जीवित और निर्जीव के भेद से ही शुरू होता था। किन्तु अब हम जीवन-विज्ञान की उस सतह पर पहुंच गए हैं जहां सजीव निर्जीव का भेद बहुत अस्पष्ट-सा रह गया है। ज्ञान के प्रारम्भिक काल में ये रेखाएं हमारे ज्ञानवर्धन में सहायक थीं किन्तु अब ये रेखाएं अनुपयोगी होती जाती हैं। धीरे-धीरे ये रेखाएं भी मिटती जा रही हैं।

उपनिषदें कहती हैं कि सभी वस्तुएं आनन्द से ही बनती और पालित होती हैं। निर्माण के इस सिद्धांत को समझने में पहले पहल सुन्दर-असुन्दर का भेद सहायक होता है। परस्पर विरोधी रंगों का भेद ही हमें सुन्दर लगता है। सौंदय की पृथक अनुभूति गहरे रंगों से होती है। भिन्न-विभिन्न रंगों की चमक-दमक जुदा-जुदा रंगों के पत्तों की झलक हमारे मन को मोह लेती है। किन्तु इन रंगों से परिचय बढ़ने के साथ यह विभिन्नता नष्ट होती जाती है और उन रंगों की परस्पर अनुकूलता एकरसता हमारे सौंदर्यप्रिय मन को अच्छी लगने लगती है। पहले हम सुन्दर वस्तु को उसकी परिस्थितियों से अलग देखते हैं किन्तु अन्त में हम उसे उसकी परिस्थितियों में ही मिला-जुला देखने का अभ्यास डालते हैं। तब सौन्दर्य के संगीत को हमें मुग्ध करने के लिए ऊंचे स्वर में आलाप करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब वह वस्तु अपनी तीव्रता छोड़ देती है और अपने गहरे व्यक्तित्व के छिपे रहस्यमय सत्य से ही हमारे मन को मुग्ध करती है।

हमारे विकास के इतिहास में एक समय ऐसा भी आता है जब हम सौंदर्य की विशेष परिभाषा करके उसे सम्प्रदाय-विशेष की चीज बना देते हैं। तब एक खास सांचे में ढली चीज को ही हम सौंदर्य कहते हैं और उस

विशिष्ट सौंदर्य का स्वामित्व भी कुछ इने गिने लोगों के ही अहंकार की वस्तु रह जाता है। उस समय सौंदर्य के साथ अनेक प्रकार के अतिशय दोष या मिथ्या भावनाएं जुड़ जाती हैं। हमारे इतिहास के पतन काल—ब्राह्मण—में ऐसा ही हुआ था। यही वह समय था जब सचाई का स्थान रूढ़ियों ने ले लिया था।

सौन्दर्य-कला के इतिहास में एक समय वह भी आता है जब सौन्दर्य का मान असाधारणता की अपनी विशेषताओं से नहीं बल्कि सामान्य वस्तुओं की प्रशांत समतामय स्थिति से होने लगता है। सामान्यता का यह रोग इतना बढ़ जाता है कि हम सौंदर्य की परीक्षा करते हुए सामान्यता या सादगी को ही कसौटी मान बैठते हैं और इस सामान्यता को उस सतह पर ले जाते हैं जहां वह प्रत्यक्ष रूप से कुरूपता व असामान्य दिखाई देने लगे। समता को लक्ष्य बनाकर हम विषमता को जन्म देते हैं। प्रत्येक प्रगति विरोधी कार्य में ऐसा ही होता है। इस युग में सौंदर्य की प्रतिगामी प्रवृत्तियां सिर उठा रही हैं, जिससे मालूम होता है कि दृष्टि की संकीर्णता सौंदर्य प्रतीति को कुरूप और सुरूप दो टुकड़ों में बांट देती है। मनुष्य जब स्वार्थ या भोगेच्छा की प्रवृत्तियों से सर्वथा वीतरागी, सर्वथा निरपेक्ष होकर वस्तुओं को देखता है तभी वह सौंदर्य का सच्चा रूप देख सकता है। यह सौंदर्य सर्वत्र है। तभी वह अनुभव कर सकता है कि हमें अरुचिकर प्रतीत होने वाली सब वस्तुएं आवश्यक तौर पर असुन्दर नहीं होतीं, उनका सौंदर्य उनकी सचाई पर निर्भर होता है।

जब हम यह कहते हैं कि सौंदर्य सर्वत्र वास करता है तो हमारा यही अभिप्राय नहीं होता कि काव्यकला से असुन्दर शब्द का बहिष्कार कर दिया जाए। यह बात उसी तरह निःसार है जिस तरह यह कहना कि दुनिया में असत्य है ही नहीं। वस्तुतः असत्य विश्व के अस्तित्व में नहीं बल्कि हमारी दृष्टि में ही होता है। इसी तरह कुरूपता जीवन के सौंदर्य को विकृत रूप में देखने की प्रवृत्ति में या सत्य को अधूरा जानने के कारण हमारी दोषपूर्ण मनोवृत्तियों में होती है। हम कुछ अंशों में व्यापक सत्य-नियमों के प्रतिकूल अपनी जीवन-व्यवस्था बना लेते हैं और विश्व में व्याप्त एकरसता के विपरीत जाकर कुरूपता को जन्म देने का कारण बन जाते हैं।

सत्य के बोध द्वारा हम प्राकृतिक नियमों को जान पाते हैं और सौंदर्य के बोध से हमें विश्व की समता का ज्ञान होता है। प्रकृतिगत नियमों का ज्ञान हमें प्राकृतिक शक्तियों पर अधिकार पाने की क्षमता देता है, हम समर्थ होते हैं एवं स्वगत नियमों का ज्ञान हमें आत्मिक शक्तियों पर अधिकार देता है और हम स्वतन्त्र होते हैं। इसी तरह सौंदर्य का बोध भी हमें विश्व की विभूतियों में आनन्द की प्रतीति देकर हमारी कला को अधिक सुन्दर व सम्पन्न बनाता है। जब हम आत्मा के सौंदर्य का बोध करते हैं तो विश्वात्मा के परमानन्द का अनुभव हमारी कला को कल्याण व प्रेम के मार्ग से असीम की ओर ले जाता है। हमारे जीवन का ध्येय है 'सौंदर्य सत्य है, सत्य सौंदर्य है।' विश्व प्रेम की प्रतीति ही हमारे जीवन को पूर्ण बनाती है। प्रेम से ही संसार का जन्म, प्रेम से ही पोषण और प्रेम के हृदय में ही इसका लय होता है। हमारे हृदय में, विश्व के केन्द्र में भी अनासक्त रहकर उस आनन्द का अनुभव करने की क्षमता आ जाएगी जो सम्पूर्ण विश्व में साक्षी रूप से स्थित ब्रह्म के परमानन्द में है। तब हमारा जीवन पूर्णता से भर जाएगा।

संगीत कला का विशुद्धतम रूप है, इसलिए वह सौंदर्य को बड़े शुद्ध रूप में प्रकट करता है। असीम का सृष्टि के सीमित रूपों में प्रकट होना भी एक मौन संगीत है। संध्या का आकाश तारों के उस संगीत से भरा है जिसे आकाश सदियों से दोहरा रहा है और फिर भी आनन्द भरे आश्चर्य से स्वयं सुन रहा है। जुलाई महीने की वर्षा की रात में जब बादल सोई हुई पृथ्वी पर एक के बाद एक पानी की चादर बिछा देते हैं उस समय ऐसा लगता है मानो मूसलाधार वर्षा का एक स्वर में बजता हुआ निनाद ही अन्धकार बन गया हो। वृक्षों की धुंधली-सी दिखाई देती पंक्तियां कांटेदार झाड़ियों का फैलाव, गीली घास की गन्ध, अन्धकार को चीरकर उठता हुआ मन्दिर का कलश, ये सब मानो रात्रि के हृदय से उठते हुए स्वर हैं जो वर्षा के स्वर में मिलकर आकाश को संगीत से भर रहे हैं।

इसलिए सच्चे कवि और तत्त्वदर्शी विश्व के सत्य को संगीत द्वारा प्रकाशित करते हैं।

वे नीले आकाश के पर्दे पर उन नित्य नये रूपों और प्रतिक्षण नये रंगों

व नई रेखाओं में बनते बिगड़ते चित्रों के रहस्य को चित्रकला द्वारा प्रकट नहीं करते।

इसका कारण है। चित्रकार के पास परदा, ब्रुश और रंग भरने की प्यालियाँ होनी चाहिए, परन्तु, ये सब होते हुए भी चित्रकार के जाते ही यह चित्र विधुर-सा रह जाता है। उसकी पूर्णता के लिए उसे चित्रकार के अनन्त प्रेम और निर्माणप्रिय हाथों का स्पर्श बहुत काल तक चाहिए जो उसे नहीं मिलता।

किन्तु गायक के सभी साधन उसके अन्तर में विद्यमान हैं। स्वरों का उदय उसके जीवन से ही होता है। उसे बाह्य उपकरणों की पराधीनता नहीं है। उसके विचार और प्रकाशन में भाई-बहन का सम्बन्ध है। उसका जन्म भी प्राय: एकसाथ ही होता है। उन्हें युगल कह सकते हैं। अत: संगीत में हृदय अनायास अपने को प्रकट कर देता है।

इसलिए यद्यपि कला की पूर्ण सिद्धि पाने के लिए संगीत को भी प्रतीक्षा करनी पड़ती है किन्तु अपूर्णता की हर अवस्था में भी यह पूर्णता के सौंदर्य का ही अनुभव कराता है। प्रकाशन के माध्यम के रूप में शब्द भी बाधक होते हैं क्योंकि उनके अर्थों पर विचार करने की सदा बाधा रहती है। संगीत में यह बाधा भी नहीं होती। वह अपना माधुर्य केवल स्वरों में ही प्रकट कर देता है।

इसके सिवा यह भी है कि संगीत और गायक अभिन्न होते हैं। गायक के साथ संगीत मर जाता है। दोनों का यह साहचर्य जीवन और मृत्यु तक सदा साथ रहने वाला है। गायक के जीवन और आनन्द के साथ ही गीत रहता है।

किन्तु विश्व-संगीत कभी विश्व-गायक से वियुक्त नहीं होता। यह उसके जीवन का अंश है। यह उसीके हृदय की धड़कन है जो आकाश में संगीत बनकर भर जाती है। यह उसीका आनन्द है जो विश्व के विभिन्न रूपों में प्रकट होता है।

इस संगीत के जुदा-जुदा स्वरों में भी पूर्णता का अंश है। पूर्णता अपूर्णता में प्रकट होती है। अपूर्णता होते हुए भी उसका प्रत्येक स्वर पूर्णता को प्रतिबिम्बित करता है।

दिया है—उसमें दिए हुए धन का ही भोग करो पराये धन का लालच मत करो।[1]

जब आपको यह मालूम हो जाए कि जगत् में सब कुछ उसीसे व्याप्त है तब आप सीमित विश्व में असीम की कल्पना और दान में दाता की कल्पना कर सकते हैं। तभी आप यह अनुभव करते हैं कि वस्तुओं की वास्तविकता उसी एक सत्य के प्रकट रूप में है और आपकी सम्पूर्ण सगृहीत वस्तुओं की उपयोगिता उनके असीम के साथ स्थापित सम्बन्ध में है न कि स्वयं उनमें। और उसके ही अंश में आपके लिए उनकी उपयोगिता है जितने म उनका असीम से सम्बन्ध है या वे जितनी असीम में व्याप्त हैं।

अत हम यह नहीं कह सकते कि ब्रह्म की प्राप्ति अन्य वस्तुओं की प्राप्ति के सदृश है। उस एक स्थान की अपेक्षा दूसरे स्थान में शीघ्र या सुविधा स पा सकने का भी कोई अर्थ नहीं है। वह एक में अप्राप्य और दूसरे में प्राप्य हो यह भी नहीं है। दिन का प्रकाश पाने के लिए हमें बनिये की दूकान पर नहीं जाना पड़ता आंख खोलते ही हम देखते हैं कि वह वहां है इसी तरह हमें ब्रह्म को पाने के लिए भी केवल अपनी आत्मा के द्वार खोलने पड़ते हैं केवल आत्मार्पण करना पड़ता है।

यही कारण है कि बुद्ध ने जीवन की जंजीरों से मुक्त होने का उपदेश दिया था। यदि उसको मुक्त होकर कोई उपलब्धि न होती तो इस मुक्ति का कुछ अर्थ नहीं था। कोई भी मनुष्य 'सब कुछ' छोड़कर 'कुछ नहीं' को पाने के लिए कभी उत्साहित नहीं हो सकता।

उपनिषदों का वचन है कि ब्रह्म में उस बाण की तरह लीन हो जाओ जो अपने लक्ष्य को बेधकर उसमें लीन हो जाता है। इस तरह ब्रह्म में बिलकुल समा जाना केवल मन की एकाग्रता से ही सम्भव नहीं। इस लक्ष्य को पाने के लिए समग्र जीवन की शक्तियां पूर्ण रूप से लगानी पड़ती हैं। अपने सब विचारों और कार्यों में हमें इस असीम के लक्ष्य को सदा सामने रखना चाहिए। यह सत्य हमारे जीवन में प्रतिदिन स्पष्ट होता जाना चाहिए कि यदि उस व्यापक आनन्दमय प्रभु का आनन्द प्रकाश में व्याप्त

1 ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

न हो तो कौन जीवित रह सकता है 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'। अपने सब कामों में हमें उसी असीम शक्ति की प्रेरणा का अनुभव करके आनन्दित होना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्म को पाना हमारी शक्ति से बाहर है अतः हमारे लिए उसका होना न होना बराबर है। हां, उसे पाने का अर्थ उस पर अधिकार पाने से है तब यह ब्रह्म अवश्य अप्राप्य है। स्मरण रखना चाहिए कि प्राप्ति का आनन्द भी अप्राप्ति-काल तक ही सीमित रहता है। जब हम अन्न लेकर भूख शान्त कर लेते हैं तो अन्न की प्राप्ति का आनन्द भी शान्त हो जाता है। जब तक भूख शान्त न हो तभी तक अन्न आनन्द दायक है। सभी भौतिक आनन्दों की परिधि इसी तरह बहुत छोटी होती है। बौद्धिक आनन्द का दायरा अधिक विस्तृत होता है। प्रेम की आनन्द परिधि और भी बड़ी होती है। वहां प्राप्ति तथा अप्राप्ति समानान्तर चलते हैं। वैष्णव भक्ति के एक गीत में भक्त अपने प्रेमी भगवान से कहता है 'जन्मकाल से ही तुम्हारा सौन्दर्य को मेरी प्यासी आंखें देख रही हैं फिर भी उनकी प्यास नहीं बुझती। अपने हृदय के परदों में मैंने तुम्हें लाखों वर्षों से छिपा रखा है फिर भी मुझे सन्तोष नहीं होता।'

इस गीत से स्पष्ट है कि हम अपने आनन्द में असीम को ही खोजते हैं। धनी बनने की हमारी इच्छा भी किसी विशेष मात्रा का धन पाने की नहीं होती वह भी अनिश्चित और अस्पष्ट-सी होती है। उसमें भी असीमितता की छाया होती है। मनुष्य-जीवन का यही सबसे बड़ा दुर्भाग्य है कि हम उन वस्तुओं की सीमा को फैलाने का यत्न करते हैं जो फैलकर कभी असीम नहीं बन सकतीं। और हम असीम को बहुत ही सीमित विस्तार के अयोग्य वस्तुओं द्वारा पाना चाहते हैं। सीमित वस्तुओं को पैबन्द लगा-लगाकर हम उसे असीम बनाने की व्यर्थ कोशिश करते हैं।

हमारी आत्मा, वस्तुतः अनभिव्यक्त वस्तुओं की प्राप्ति के लिए व्याकुल होती है। किन्तु जब वह बार-बार के यत्न के बाद भी पास की प्राप्य वस्तुओं के घेरे से नहीं निकल पाती तो पुकार उठती है—मैं इन प्राप्तियों से परेशान हो गई हूं वह कहां है जो प्राप्त नहीं होता।

मनुष्य का इतिहास साक्षी है कि विराम मनुष्य की आत्मा में बहुत

गहरा बसा हुआ है। मनुष्य जब यह कहता है कि 'मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं इनसे ऊपर हूं' तो सचमुच यह हृदय की बात कहता है। लड़की जब यह देखती है कि वह अपनी गुड़िया से हर बात में अधिक है तो वह गुड़िया को फेंक देती है। किसी वस्तु पर अधिकार पाना ही हमें यह बता देता है कि हम उससे अधिक समर्थ हैं। ये हीन हैं। ऐसी हीन वस्तुओं के संग बंधे रहना किसीको स्वीकार नहीं होता। मैत्रेयी ने भी अपने पति को जब वह अपनी सम्पत्ति देकर चला था, यही बात कही थी। उसने पूछा था, 'क्या ये भौतिक वस्तुएं मुझे असीम को पाने में सहायता देंगी?' अथवा दूसरे शब्दों में 'क्या ये चीजें मेरी आत्मा से अधिक मूल्यवान हैं!' उसके पति ने जब यह कहा कि 'ये सामान तुम्हें संसारी दृष्टि से समृद्ध बना देंगे', तो मैत्रेयी ने तुरन्त उत्तर दिया 'तो मैं इनको लेकर क्या करूं?' मनुष्य जब सांसारिक पदार्थों की वास्तविकता जान लेता है तभी उनके बन्धनों से छुटकारा पा जाता है। अपने अधिकृत वैभव से ऊंचा उठकर ही मनुष्य अपनी आत्मा को पहचानता है। इस तरह अनन्त मार्ग के पथ पर बढ़ते हुए मनुष्य को अनेक बार वैराग्य के द्वार में से गुजरना पड़ता है।

हम असीम ब्रह्म को नहीं पा सकते यह विश्वास केवल तर्कसम्मत ही नहीं है। इसे हृदय से अनुभव किया जाता है और इसी अनुभूति में आत्मिक आनन्द है। पक्षी जब आकाश में पंख पसारकर उड़ता है तो वह जानता है कि वह इन पंखों से आसमान के छोर को नहीं छू सकता। इसी अनुभव में उसे आनन्द मिलता है। पिंजरे का आकाश बहुत छोटा होता है। उसकी जरूरतों के लिए शायद वह काफी हो, किन्तु अपनी जरूरतों की हद में तो पक्षी भी सन्तुष्ट नहीं रहता। वह भी तभी असीम आनन्द का अनुभव करता है जब जो उसके पास होता है बस इतना अधिक हो कि उसकी आवश्यकताएं उस सीमा को कभी छू भी न सकें और कल्पना भी उस हद तक जल्दी न पहुंच सके।

*हमारी आत्मा को भी असीम पंख फैलाकर उड़ना चाहिए और यही मानते हुए कि आकाश की सीमाओं को न छू सकने में ही आनन्द है उड़ते रहना चाहिए।*

मनुष्य का स्थायी आनन्द इच्छित वस्तु की प्राप्ति में नहीं बल्कि

अपन से महान के लिए आत्मार्पण करने में है। वह महानता विचारों में, व्यक्ति में देश में मानव-मात्र में या परमात्मा में भी हो सकती है। जब तक वह अपना सर्वस्व किसी महान उद्देश्य को अर्पण नहीं कर देता और अर्पण द्वारा अपनी सांसारिक विभूतियों के बन्धन से मुक्ति नहीं पा लेता तब तक वह दुःखी रहता है। बुद्ध ईसा मसीह तथा अन्य सभी महापुरुष इसी सचाई को व्यक्त करते है। ये हमें सर्वस्व-दान का अवसर देते है। दानपात्र लेकर जब वे हमारे सम्मुख सर्वस्व की भिक्षा के लिए आते हैं तो हमे आत्मिक दान का स्वर्ण अवसर देते है। इस पात्र में हम जितना भी आत्मदान देते हैं उतना ही हमें सच्चा आत्मिक आनन्द मिलता है।

मनुष्य पूर्ण नहीं है पूर्ण होना है। इस है के छोटे-से पिंजरे में ही यदि हम उसे कैद कर देंगे तो यह उसके लिए नरक हो जाएगा। उसकी भवितव्यता ही उसका स्वर्ग और उसकी मुक्ति है। अपनी सम्भावनाओं से उसका मन सदा उदयोन्मुख रहता है। उसका भविष्य अपनी सम्भावित महानताओं के स्वप्न लिया करता है वह वहां तक पहुंचने के लिए भूखा है इस भूख को वह कभी खो नहीं सकता, क्योंकि अपनी कल्पित भावनाओं तक वह कभी नही पहुंच सकता।

हमारे सीमित व्यक्तित्व का स्थान आवश्यकताओं की दुनिया में है। वहां वह अन्न-वस्त्र की खोज में जाता है और उन्हें प्राप्त करता है। यह उसका लौकिक धर्म है।

किन्तु यह धर्म आंशिक धर्म है। यह केवल मनुष्य की उपयोगिताओं तक सीमित है। अपनी आवश्यकताओं की सीमा में ही हम यह धर्म निभा सकते है। ठीक उस तरह जिस तरह पात्र में उतना ही जल आ सकता है जितना वह खाली है। अतः यह पूर्ति सदा आंशिक रहेगी।

दूसरी ओर, आत्मिक जगत् में उपयोगिता का राज्य समाप्त हो जाता है। वहां हमारा धर्म प्राप्ति का नहीं रहता बल्कि ब्रह्म से एक होने का रहता है। असीमता का क्षेत्र ही एकता का क्षेत्र है। तभी उपनिषदें कहती हैं ब्रह्म को पाकर मनुष्य सत्य-स्वरूप हो जाता है। जिस तरह अर्थ को पाकर शब्द मान या तोल में बढ़ता नहीं बल्कि शब्द अर्थमय हो जाता है। किसी शब्द का ही अर्थ जानकर आप शब्द का विस्तार नहीं करते।

केवल ज्ञान का आनन्द उठाते हैं। इसी तरह ब्रह्म को पाकर हम अपनी वृद्धि नहीं करते ब्रह्ममय हो जाते हैं।

अत ब्रह्म का पान का अर्थ ब्रह्म से एकत्व पाना ही है। पार्थिव जगत् में प्राप्ति ही ध्येय होती है किन्तु आत्मिक जगत् म प्रदान ही ध्येय बन जाता है। प्रदान का मार्ग ही एकत्व का मार्ग है।

नि संदेह हमें ब्रह्म होना है। हमारा जीवन ही व्यर्थ है यदि हम अपने इस पूर्णता के ध्येय को न पा सकें। जिस ध्येय तक हम कभी पहुँच नही सकते वह ध्येय ही क्या! तब क्या यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और आत्मा म कोई भेद नही ? कदापि नही। यह भेद बड़ा स्पष्ट है। इसे माया कहिए या भ्रांति, भेद जरूर है। *माया भी तो माया के रूप में सत्य है।*

ब्रह्म ब्रह्म है। वह पूर्णता की सीमा है। हम अपने सच्चे रूप में नहीं हैं। हमें अभी उस आदर्श को पाना है ब्रह्म बनना है। इस रहस्यमयी प्रक्रिया के मूल में ही वह सत्य और आनन्द है जो सृष्टि की अनन्त धारा को थामे हुए है।

नदी की महती धारा के हर क्षण के संगीत म यह आनन्द भरा आश्वासन प्रतिध्वनित हो रहा है कि 'मैं समुद्र बनूँगा। यह दावा झूठा नही है स्वप्न नहीं है। यह सत्य है। नदी का यही ध्येय है। इसके दोनों तटों पर गाँव, खेत और जगल हैं नदी उन्हें सींचती है खेतों की उपज को एक जगह म दूसरी जगह ले जाती है किन्तु वह इनका अंग नहीं बन सकती। इनस नदी का आंशिक और अस्थायी सम्बन्ध ही रह सकता है। इन खेतों व मैदानो म नदी का पानी कितनी ही देर ठहरा रहे वह खतों का भाग नहीं बनेगा। वह पानी खत नहीं बनगा। उसे आगे बढ़कर समुद्र बनना है। धीमे बहने वाले पानी की प्रकृति भी समुद्र के पानी से मिलती है। यह पानी रास्ते के अनेक प्रयोजनों क बीच से गुजरेगा किन्तु उसका लक्ष्य समुद्र ही रहेगा। वहीं इसकी गति का अंतिम विश्राम मिलेगा।

*नदी समुद्र-रूप में बदल सकती है* किन्तु वह समुद्र को अपना भाग नहीं बना सकती। अचानक नदी न पानी की बड़ी झील को घेर लिया है तो भी नदी न अपना हिस्सा नहीं बनाया क्योंकि वहां से भी नदी के पानी का आगे बढ़ना है। उसकी धारा को तब तक शान्ति नहीं मिलती जब तक वह

अपने ध्येय—सागर—म विलीन नहीं हो जाती सागर नहीं बन जाती।

जैसे नदी को सागर बनना है वैसे ही आत्मा को परमब्रह्म बनना है शेष सब वस्तुओं को पार्श्व से छूते हुए आगे बढ़ जाना है। किन्तु आत्मा ब्रह्म को भी स्पर्श करके आगे नहीं बढ़ सकती। ब्रह्म में अन्तिम विराम पाकर उसकी समस्त गतियों का प्रयोजन पूरा हो जाता है। यह अनन्त विश्राम का समुद्र ही उसकी विविध प्रवृत्तियों का लक्ष्य है। लक्ष्य की यह पूर्णता ही हमारे प्रवहमान प्रयत्नों को वह सौन्दर्य देती है जो हमारी कविता और कला के रूप मे अपने को प्रकट करता है।

कविता को अनुप्राणित करने वाला एक विचार होता है। वही कविता का मध्य बिन्दु कहलाता है। सुन्दर कविता वही है जिसका प्रत्येक शब्द इस बिन्दु को छूता हो। इस केन्द्रीय कल्पना को कविता मे अनुभव करने के बाद ही पाठक कविता का पूरा रसास्वादन कर सकता है। तभी कविता का प्रत्येक छन्द सम्पूर्ण कवि-कल्पना के प्रकाश से चमक उठता है। इसके विपरीत यदि कविता केन्द्रीय कल्पना स रहित अनेक बिखरे भावों को व्यक्त करती हो तो उन बिखरे भावो के सुन्दर होने पर भी कविता नीरस हो जाएगी। हमारी आत्मा का विकास भी कविता की तरह है। हमारी आत्मा भी एक ही केन्द्रीय कल्पना बिन्दु के चारो ओर घूमती है। उसकी गति का विश्राम भी अपनी केन्द्रीय कल्पना में है। अन्यथा हमारा अस्तित्व एक ऐसे दैत्य के समान रह जाएगा जो सब दिशाओं में निरुद्देश्य भागता फिरता है।

मुझे याद आता है बचपन म हमारा एक शिक्षक हमें संस्कृत व्याकरण की सम्पूर्ण पुस्तक को कण्ठस्थ करवाया करता था। हमने उसको कण्ठस्थ करने का बहुत यत्न किया किन्तु उसका अभिप्राय हमारी समझ म लेशमात्र भी न आया। और उसका रस तो हम ले ही क्या सकते थे! हमारी अवस्था उस नृत्य-दर्शक की थी जो नृत्य की कठिन मुद्राओं और शास्त्रसंगत अवयव-सचालन तक ही नृत्य को देख सकते हैं जिन्हें उसका संगीत सुनाई नहीं देता और जो संगीत के लय-तान व स्वर-साधन की कला से सर्वथा शून्य हैं। वे नृत्य को शारीरिक व्यायाम ही समझते हैं। शारीरिक सौन्दर्य की प्रशंसा से अधिक व कुछ नहीं कर सकते। उन्हें यह

नहीं मालूम कि अंग-संचालन संगीत के अनुरूप होता है, नृत्य व संगीत दोनों एक ही ताल में बंधे हुए हैं। यह तालबद्धता और भावाभिव्यक्ति अनुपम सौन्दर्य का निर्माण कर रही है।

हमारी आत्मा की भी यही स्थिति है। उसकी भी प्रत्येक गति ब्रह्म के सरगम में सधी होनी चाहिए। दोनों का एक ही सा प्रवाह होना चाहिए। दोनों समस्वर होने चाहिए।

उपनिषदों में एक वाक्य बड़ा सुन्दर आया है जिसका अर्थ है कि मैं नहीं मानता कि मैं उसे अच्छी तरह जानता हूं या बिलकुल जानता हूं और यह भी नहीं मानता कि मैं उसे नहीं ही जानता।[1]

ज्ञान-साधन के प्राकृत नियमों के अनुसार हम उसे नहीं जान सकते किन्तु वह सर्वथा अज्ञेय है तो उससे हमारा कोई भी संपर्क नहीं हो सकता। सचाई यह है कि हम उसे नहीं भी जानते और जानते भी हैं।

उपनिषदों में यही बात अन्य शब्दों में भी कही गई है।[2] वाणी और मन दोनों उस ब्रह्म को न पाकर लौट आए। केवल आनन्द द्वारा ही उसे पाकर सब भय दूर हो जाते हैं।

तर्क द्वारा केवल हम उस वस्तु का ज्ञान पा सकते हैं जो हिस्सों में बांटी जा सके विश्लिष्ट हो सके। ब्रह्म का विश्लेषण नहीं हो सकता। वह पूर्ण है। आंशिक ज्ञान देने वाला तर्क उसके ज्ञान में सहायक नहीं हो सकता।

उसे केवल आनन्द से प्रेम से पा सकते हैं। आनन्द ज्ञान की सम्पूर्णता में है आंशिक सत्य में नहीं। तर्क हमें बाह्य ज्ञान देता है और प्रेम अन्तर्ज्ञान देता है। अन्तर्यामी का ज्ञान अन्तश्चक्षु द्वारा ही हो सकता है।

इसलिए उपनिषद् का यह प्रवचन सत्य ही है कि मन ब्रह्म को नहीं पा सकता वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता केवल हमारी आत्मा प्रेम और आनन्द से उसे पा सकती है। ब्रह्म के साथ पूर्ण एकात्मता बना कर ही आत्मा उसे पा सकती है। यही आध्यात्मिकता का मार्ग है। इस

---

१ नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।

२ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

आत्मिक मिलन में ही ब्रह्म के सच्चे ज्ञान का रूप छिपा है। हम उस जैसे ही बनकर उसे पा सकते हैं। ब्रह्म बनकर ही ब्रह्म का गहन ज्ञान पा सकते हैं।

किन्तु यह कैसे होगा ? असीम पूर्णता में दर्जे नहीं होते। हम ब्रह्म म धीरे-धीरे विकास नहीं पा सकते। वह अपने-आपमे पूर्ण है। उससे कमी अधिकता तो हो ही नहीं सकती।

अपने अन्तरात्मा में परमात्मा का बोध पूर्णता की पराकाष्ठा म ही होता है सीढ़ी-दर-सीढ़ी नहीं होता। सभी उपनिषदों मे कहा है जो अनन्त ब्रह्म को आत्मा की गहरी कन्दरा म छिपा जानता है हृदयाकाश में बैठा जानता है वह सर्वत्र ब्रह्म क साथ मिलकर सभी इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति का आनन्द लेता है।'[1]

परमात्मा ने स्वय हमारी आत्मा का वरण किया है। एकात्मकता हो चुकी है। वैदिक मन्त्र कहता है 'यदेतत् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव' जो तेरा हृदय है वही मेरा हृदय हो। यह 'एष' जिसका कोई दूसरा नाम नहीं दिया वह 'अस्य' हमारे अन्तर में हर समय रहता है। यही एष हमारे 'अस्य' का अन्तिम लक्ष्य है।[2] यही उसकी परम सम्पत्ति है।[3] यही उसका परम निवास है।[4] यही उसका परम आनन्द है।[5] मानो दोनो का अनन्त साहचय दोनों का विवाह अनन्त काल मे सम्पन्न हो चुका है। अब केवल अनन्त प्रेमलीला चल रही है। समय और आकाश की अनन्तता म दोना आंखमिचौनी खेल रहे हैं। हमारी आत्मारूपी वधू जब इस लीला का रहस्य जान जाती है तो उसको परम शांति और परम विश्राम मिलते है। उसे अनुभव होने लगता है कि जिस तरह समुद्र से संयुक्त नदी का एक सिरा समुद्र में मिला होता है उसी तरह उसके व्यक्तित्व का एक पार्श्व अनन्त

---

१ सत्यं ज्ञानं मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन।
योऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ।

२ एषास्य परमा गति ।

३ एषास्य परमा सम्पद् ।

४ एषास्य परमो लोक ।

५. एषास्य परमानन्द ।

से मिल चुका है। और जिस तरह नदी का दूसरा सिरा भी सदा समुद्र में मिलने को बहता रहता है उसी तरह मनुष्य-जीवन का एक भाग सदा अनन्त में संयुक्त होने को यत्नशील रहता है। विश्व के स्वामी को ही अपना स्वामी मानने के बाद आत्मा विश्व को अपना ही घर मानने लगती है। तभी उसके लौकिक काम भी प्रेम प्रेरित हो जाते हैं। जीवन के सब कष्टों को वह इस भावना से सहन करती है मानो प्रेम में पूरी उतरने की उसकी परीक्षा हो रही है। वह भी अपने प्रेम की शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए अपने प्रेमी के कामों को हंसते-हंसते करती है। जब तक वह अंधकार में रहती है अपना घूंघट नहीं उठाती तब तक वह प्रमी को पहचान नहीं पाती और तभी तक वह घर की दासी की तरह काम करती है। तभी तक वह संशय दुःख निराशा में कष्ट उठाती है। बौभिक्षाद् याति शौभिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्' भूख से भूख कष्ट से कष्ट और भय से भय की प्राप्ति होती रहती है। मुझे एक गीत कभी नहीं भूलता, इसे एक दिन बहुत धुंधले-से प्रकाश में एक द्वीप पर एकत्र भीड़ में सुना था। गीत की टेक थी 'हे मांझी! मुझे पार ले चल।

हमारे दैनिक जीवन के कामों की भीड़ से यह आवाज सदा आती रहती है, कि मुझे पार ले चल'। गाड़ीवान अपनी गाड़ी हांकते हुए भी यही गाता है पार ले चल। बनिया ग्राहकों को सौदा देते हुए यही गाता है, 'मुझे पार ले चल।

इस पुकार का क्या अर्थ है? क्या हम अनुभव करते हैं कि हम जो कुछ कर रहे हैं उससे अपने लक्ष्य की ओर नहीं जा रहे? या अपने खिलौने में असन्तुष्ट बालक की तरह हमारा हृदय रो-रोकर कहा करता है 'यह चाहिए' कभी 'वह चाहिए'। आखिर वह दूसरा पार कौन-सा है जहां हम जाना चाहते हैं? वह कौन-सा खिलौना है जो हम चाहिए? क्या वह जो कुछ हमारे पास है उससे जुदा है? क्या वह यहां से दूर किसी और दुनिया में है? अथवा हम इस प्रकार सभी कामों से छुट्टी चाहते हैं जीवन की जिम्मेदारियों से छुटकारा पाना चाहते हैं?

नहीं, इन सब कामों को करते हुए भी हम अपने लक्ष्य की तलाश कर रहे हैं। हमें पार ले चल' गाना गाते हुए भी जब हमारे होंठ इन शब्दों का

उच्चारण करते हैं, हमारे हाथ अपना काम कर रहे होते हैं, वे निष्क्रिय नहीं होते।

वस्तुतः हे आनन्द महासागर! तुझमें यह किनारा और वह किनारा एक ही हो गए हैं। 'यह' और 'वह' का भेद नहीं रहा किन्तु जब मैं 'यह' कहता हूं तो 'वह' का मुझे ज्ञान ही नहीं होता। मेरा जिज्ञासु मन उस 'वह' को पाने के लिए व्याकुल रहता है। यह बेचैनी तभी मिटेगी जब तेरे प्रेम में 'यह' और 'वह' सब एक हो जाएंगे।

मेरा यह 'मैं' दिन-रात उस घर के लिए काम करता है जो उसे मालूम है कि अपना घर है। जब तक वह उसे तेरा घर नहीं मानेगा तब तक उसके कष्टों का अन्त नहीं होगा। तब तक वह यही पुकारेगा, 'मुझे उस पार ले चल!' जब वह यह कह सकेगा कि 'मेरे सब काम तेरे हैं' तब वह स्वयं पार पहुंच जाएगा।

इस अपने घर को तेरा बनाए बिना मैं तुमसे और कहां मिल सकता हूं? इस अपने काम को तेरा ही काम बनाए बिना मैं और कहां तुमसे मुक्त हो सकता हूं? यदि मैं अपने घर को छोड़ दूं तो तेरा घर भी साथ ही छूटता है। इसे छोड़कर मैं तेरे घर नहीं पहुंच सकता। यदि मैं अपना काम छोड़ दूं तो तेरा काम भी छूटता है। अपना काम छोड़कर मैं तेरा काम नहीं कर सकता। क्योंकि तू मुझमें है मैं तुझमें। तू मेरे बिना मैं तेरे बिना रह नहीं सकते।

इसलिए अपने घर और अपने काम में घिरे हुए, यही प्रार्थना है मुझे पार ले चल! क्योंकि यही वह समुद्र है और यहीं उसका दूसरा छोर, जिसके पार हमें पहुंचना है!

० ० ०

1770